भावना

[गद्य-काव्य]

लेखक

वियोगी हरि

प्रकाशक

साहित्य-सेवा-सदन,

काशी

प्रथमबार, १०००

वसंत पंचमी, संवत् १९८५ वि०

मूल्य ॥=)

तुम्हें ही—

तुम्हारी वस्तु !

भावना

मंगला वेला

आज फिर उसी मंगला वेला की प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। प्राणेश्वर! अधीर आँखोंने आज फिर तुम्हारे पदार्पण के अर्थ पलक-पाँवड़े बिछा रखे हैं। हृदय-मन्दिर के द्वार पर खड़ी भावना आज फिर तुम्हारी मंगला-आरती उतारने को उत्कण्ठित हो रही है।

लोक-ललाम, तुम्हारे पधारने की सूचना मुझे परिशोध-शीला प्रकृतिने आकर दी है। आज उसने फिर अपना वैसा ही पट-परिवर्तन किया है। सुहागिनी प्राची के अञ्चल में अरुण पुष्पों

का वैसाही उपहार फिर दिया जा रहा है। आकाश की शून्यता भी अपनी सहज धारणा भूलकर मङ्गलोपहार देने के लिए लालायित हो रही है। सरस समीर के सौरभ-सञ्चय का रस-रहस्य मुग्धा प्रकृतिने बड़े ही कौशल से उद्घाटित किया है। भावुक भ्रमर नवेली नलिनी का मकरन्द लेकर, देखो, किस उन्मत्तता से प्रणय-गीत गा रहा है! बड़ा ढीठ है। हिलोरों के हटकने पर भी बारबार उसी विकसित कमलिनी पर मँडरा रहा है। पंकज-पत्रों में ओस-मुक्ताओं की भेंट लिये कृतज्ञ सरोवर भी उसी उल्लास के साथ लहरा रहा है। तरु-वासी द्विज-कुलने भी पूर्ववत् ही तुम्हारे स्वागतार्थ स्वस्ति-वाचन आरम्भ कर दिया है। इस संपूर्ण प्रस्तावना से तो यही प्रकट होता है, कि तुम्हारी पदार्पण-वेला अब बहुत दूर नहीं। मङ्गलमय! अब शीघ्र पधारो। तुम्हारे लिए आरती सजाये, हृदय-मन्दिर के द्वार पर, मेरी भोली 'भावना', देखो, कब से उत्कण्ठित खड़ी है।

इस ब्राह्मी वेला की मंगला-आरती ही, मेरी दृष्टि में, एकमात्र नयनोत्सव है। इस आत्म-प्रबोधिनी वेला का रहस्य खोल लेना ही जीव का एकान्त जीवनोत्सव है। मंगलस्वरूप! आज मुझे तुम्हारे मंगल-स्वागत में इन दोनों महोत्सवों का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। अतः मेरी यह मंगलमयी 'स्वागत-प्रस्तावना' शीघ्र ही सफल करो।

प्रीति

वह एक लहलही लता है। आँसुओं से सींच-सींचकर मैंने उसे बढ़ाया है। आज वह तुम पर मोहित होकर प्रफुल्लित और पुलकित हो रही है। तुम एक सुन्दर तरुण तमाल हो न? यदि हाँ, तो अपनी उस प्राण-प्रिया को प्रगाढ़ालिङ्गन क्यों नहीं देते?

वह एक चाह-भरी चातकी है। समस्त समुद्रों को क्षुद्र मानकर वह पगली तुम्हारी प्रतीक्षा में व्याकुल खड़ी है। तुम श्यामघन हो न? यदि हाँ, तो अपनी उस प्यारी प्यासी पपीही को अपने रूप का एक स्वाति-विन्दु क्यों नहीं पिला देते?

वह एक तड़पती हुई मछली है। क्षीर और मधु के कुण्डों में भी जब वह किसी भाँति न रम सकी, तब मैं उसे आज तुम्हारी

शरण में लाया हूँ। तुम एक स्वच्छ सरोवर हो न? यदि हाँ, तो उसे अपनी विलोल हिलोरों के साथ कलोल क्यों नहीँ करने देते?

वह एक सरला चकोरी है। उसकी पलकें तुम्हें छोड़ और किसी ओर उठती ही नहीँ। तुम पूर्णचन्द्र हो न? तो फिर अपनी उस विरहिणी रमणी की प्यासी आँखों मेँ दो बूँद अपना रूप-रस क्यों नहीँ टपका देते?

वह एक सरला सरिता है। पर्वतों की छाती चीर-चीरकर वह यहाँतक दौड़ती-हाँफती आई है। तुम महासागर हो न? यदि हाँ, तो अपनी प्रेमातुरा कान्ता को कण्ठ से क्यों नहीँ लगा लेते?

वह एक अस्थिरा चपला है। अनन्त आकाश में विहरती हुई वह तुम्हारे समीप सात्विक भाव से कम्पित हो रही है। तुम कृष्णवारिद हो न? तो फिर उस प्रणयिनी को अपने साथ विमुक्त विहार क्यों नहीं करने देते?

वह एक विरही की प्रीति है। निरन्तर प्रिय-दर्शनोत्कण्ठाने उसे जाह्नवी से भी अधिक पावन बना दिया है। आज वह तुम्हारे समक्ष मिलन-पुष्पाञ्जलि लिये खड़ी है। तुम उसके प्रियतम हो न? यदि हाँ, तो उसकी साधना स्वीकार क्यों नहीँ कर लेते?

आदेश

बिना तुम्हारा आदेश प्राप्त किये मैं कर ही क्या सकूँगा? सर्व-समर्थ, मुझे कर्म के रण-क्षेत्र पर उतारना ही है, तो पहले अपना आदेश देदो। तुम्हारा आदेश-कवच धारण करके ही मैं माया का दुर्भेद्य व्यूह छिन्न-भिन्न कर सकूँगा।

जिसके आवेश से ज्योतिर्हीन नेत्रों में प्रलयंकरी रौद्रतेज, क्षीण और अवनत बाहुओं में हिमाद्रि-मर्दन बल एवं पराक्रम, निस्साहस हृदय में क्रान्ति-कारी उत्साह और उत्तेजन, तथा निर्बल वाणी में लोक-प्रकम्पन ओज का अकस्मात् उदय हो जाता है, उसी दिव्य शक्ति को तुम्हारा आदेश कहते हैं न?

गीता-गायक! भीषण कुरुक्षेत्र पर बिना तुम्हारा आदेश पाये भीष्म, द्रोण और कर्ण के अभिमुख असमर्थ अर्जुन कैसे युद्धार्थ उद्यत हो सकता था? आदेश तो दिया नहीं, और लगे उस बेचारे को बनाने! धन्य! प्रपन्न पार्थ का प्रयास तो निमित्तमात्र था। वस्तुतः तुम्हारे आदेशने ही उसके गाण्डीव पर प्रचण्ड ताण्डव किया था।

तुम्हारा आदेश प्राप्त करके ही जटिल जामदग्न्यने अपना परशु गुरुद्रोही सहस्रबाहु के रक्त से रंजित किया था। उस कुशपाणि ब्राह्मण-कुमार की भुजाओं में तुम्हारे आदेश का आवेश न हुआ होता, तो वह अपना यज्ञ-कुण्ड आततायी क्षत्रियों के रुधिर से कैसे पूरित कर पाता?

कोई भी वृहद् व्यापार अथवा लोक-विप्लव, बिना तुम्हारे आदेश के, पूर्णत्व को प्राप्त नहीं हो सकता। वही शक्ति और भक्ति का संचालक है; और, वही भुक्ति और मुक्ति का भी प्रेरक है। जगदाधार! यह निश्चय है कि, वासना-क्षय और साधना-सिद्धि का अनुभव तुम्हारे एकमात्र आदेश पर ही अवलंबित है।

मेरी यह धारणा है कि, बिना तुम्हारा आदेश प्राप्त किये मैं कुछ भी न कर सकूँगा। मुझे कर्म के रण-क्षेत्र पर उतारना ही है, तो, सर्व-समर्थ! पहले अपना आदेश दे दो। तुम्हारा आदेश-कवच धारण करके ही मैं माया का दुर्भेद्य व्यूह छिन्न-भिन्न कर सकूँगा।

क्यों नहीं ?

यदि मेरा मस्त मन मृग है, तो मैं तुम्हारी स्मृति को कस्तूरी क्यों न कहूँ ?

तुम्हारे ध्यान-चित्र को मैं चन्द्र कह सकता हूँ या नहीं ? यदि हाँ, तो मुझे अपने मुग्ध मन को चकोर कहने से क्यों रोकते हो ?

जब मेरा चंचल चित्त चातक होने को अधीर हो रहा है, तब तुम्हें स्वाति-घन बनने में आपत्ति ही क्या है ?

तुम्हारे रूप को क्या मैं श्यामघन की उपमा दे सकता हूँ ? यदि हाँ, तो मेरे उन्मत्त मन को भी मयूर बनकर नृत्य करने दो, प्यारे !

यदि तुम चोर होने में ही अपना माल समझते हो, तो मेरे तिमिराच्छन्न हृदय को, छिपने के लिए, अपना भवन क्यों नहीं बना लेते ?

बाहर खड़े-खड़े मेरे आँसुओं से भीगते क्यों हो ? मेरे हृदय को क्या तुम अबभी अपना विश्रान्ति-मन्दिर नहीं मानते ?

यह कैसे हो सकता है कि, तुम अपने को जल कहो और मैं मीन होने का दावा न करूँ ?

क्या यह युक्ति-संगत है कि, तुम तो मुझे मधुकर कहो, और मैं तुम्हें सरोज न मानूँ ?

भावना

यह भी क्या सम्भव है कि, मैं तो तुम्हें दीपक के रूप में देखूँ, और तुम मुझे पतंग न मानो ?

तुम्हें यदि मैं सागर कह सकता हूँ, तो कोई कारण नहीं, कि मैं अपने को तरंग न कहूँ।

तुम बिम्ब हो, तो कहो, मैं तुम्हारा प्रतिबिम्ब हुआ या नहीं ?

मेरी प्रवृत्ति को अपनी प्रेम-तंत्री की झनकार कहने में क्या तुम्हें कोई संकोच है ?

यह झूठ है कि, तुम चुम्बक हो। यदि सच ही चुम्बक हो, तो मेरे लोहे-जैसे कठोर मन को आकर्षित क्यों नहीं कर लेते ?

यदि मेरे आँसुओं को मोतियों की समता दी है, तो उनकी माला पहनने में तुम्हें आपत्ति ही क्या है ?

मेरे हृदय को यदि एक प्रस्तर-खण्ड मान बैठे हो, तो उस पर अपने प्रेम-रस का झरना क्यों नहीं झरने देते ?

यह कभी न होने दूँगा, कि तुम तो बजाते रहो वीणा, और मैं मृग की भाँति तुम्हारे स्नेह-जाल में फँसने न जा पहुँचूँ।

तो फिर इस गली से निकलते ही क्यों हो ? प्यारे, यह कैसे सम्भव हो सकता है कि, इस मार्ग पर तुम्हारे चरणं पड़ें, और मैं अपने को वहाँ की धूलि न बना लूँ ?

परिभाषा

मेरी दार्शनिक परिभाषाएँ सुनकर, हे अवाङ्मनसगोचर! मेरा उपहास न करना। कारण यह है, कि मैं शास्त्रीय ज्ञान से नितान्त अनभिज्ञ हूँ।

हे रस-रूप, तुमने आनन्द-धाम की रचना स्वरस के असंख्य परमाणु-संयोग से की है न? इसीलिये अपने इस मत को मैं वैशेषिक-वादियों एवम् नैयायिकों के शब्दों में 'परमाणुवाद' और 'आरंभवाद' कहता हूँ।

कापिल सिद्धान्त से तो मेरा 'गुण-परिणामवाद' अवश्य कुछ भिन्न है। तुम्हारे ललित-लोचनों में श्याम, रक्त और श्वेत वर्ण देख मैंने त्रिगुणात्मिका प्रकृति का अनुभव किया है। भाव-सृष्टि को मैं इसी वर्ण-त्रयी के संकेत का एक परिणाम मानता हूँ। तो अपने इस मत को मैं 'गुण-परिणाम-वाद' की संज्ञा क्यों न दूँ?

अब, इस शास्त्र-विहीन के मुख से 'अनेकान्तवाद' की परिभाषा सुनो। हे अनेकरूप, किसीने तुम्हारी रूप-माधुरी का किसी एक रूप में आस्वादन किया है, तो किसीने किसी दूसरे ही रूप में। रूप-माधुरी तो तत्वेन एक ही है, किन्तु उसके आस्वादी

अलि अनेक हैं। प्रत्येक भावुक भ्रमर का आस्वादन-अनुभव, स्व-स्वदृष्टि से, सत्य और सम्यक् है। अतः मुझ मूढ़ की समझ में तो यही मत 'स्याद्वाद' अथवा 'अनेकान्तवाद' है।

निर्गुण और निराकार होते हुए भी, हृदय-नाथ! भक्तों की दृष्टि में तुम सगुण और साकार भासित होते हो। हो तो परम दयालु, पर हम-जैसे धृष्टजनों के मुख से तुम्हें सदा निर्दय-निष्ठुरादि उपाधियाँ प्राप्त होती रहती हैं, क्योंकि दृष्टि-दोष से तुम्हारे गुणों में हमें कुछ ऐसा ही भास हो रहा है। इसलिए इस मत को मैं, अद्वैती वेदान्ती के रूप में, 'विवर्त्तवाद' कहा करता हूँ।

तुम एक हो अथवा अनेक, यह मेरे परिमित ज्ञान से परे है। किन्तु यह तो निर्णीत और निश्चित है कि, तुम्हारा प्रेम निस्सन्देह एक और अद्वैत है। तुम्हारी प्राप्ति के अन्य समस्त साधनों की उसी प्रेम से उत्पत्ति, उसी में स्थिति और उसी में संहृति भी है। उसी में सत्, चित् और आनन्द की अनिर्वाच्य अनुभूति प्राप्त होती है। 'अद्वैतवाद' का प्रत्यक्ष दर्शन मुझे अपने इसी मत द्वारा हुआ है। इसी से मैं 'अहं ब्रह्मास्मि' न कह कर 'अहं प्रेमास्मि' कहता हूँ।

हे विश्व-रमण! मेरी इन मूर्खता-पूर्ण विचित्र दार्शनिक परिभाषाओं पर तुम अवश्य मन-ही-मन हँसते होगे।

मालिन

फूलों की डलिया लिये वह मालिन नित्य आधीरात को उस उद्यान में पहुँच जाती है। फूल चुनने का, भला, यह भी कोई समय है! माला गूँथने की, भला, यह भी कोई वेला है!

मालिन कभी किसी से कुछ बोलती नहीं। अपनी ही धुन में मस्त रहती है। कभी मूक-वेदना की भाँति चुपचाप निकल जाती है, तो कभी थिरकती हिलोर की तरह कुछ अलापती हुई। किसी को उससे कुछ पूछ-ताछ करने का साहस भी नहीं होता। उस समय जो भी उस प्रेम-प्रतिमा को देखता है, वही अपना मस्तक भक्ति से उसके चरणों पर झुका देता है। उस अनुरक्ति-देवी के मार्ग पर कौन श्रद्धा-भक्ति के पुष्प न छितरा देगा?

भावना

जिस उद्यान में वह जाती है, वहाँ फूल-पत्तीवाला एक भी पेड़ नहीं। न तो वहाँ कोई कुसुम-क्यारी ही है, और न कोई लहलही लता ही। हाँ, इमली, बड़, पीपल और ताड़ के बड़े-बड़े पेड़ खड़े हैं। उसके भीतर तो दिन में ही नहीं धँसा जाता। बड़ा बीहड़ स्थान है। फिर, समझ में नहीं आता, कि नित्य आधी रात को वहाँ वह मालिन क्या करने जाती है।

जिस रात को वह अपनी फूल-डलिया लिये चुपचाप जाती दिखाई देती है, हम उसे अदृष्ट की अस्पष्ट छाया, उल्लास की अधीर स्फूर्त्ति अथवा प्रेम की रहस्यमयी प्रेरणा के नाम से हृदयाङ्कित कर लेते हैं। और, जब वह कोई रागिनी अलापती हुई इस गली से निकलती है, तब हम उसे विरह-विह्वला श्यामा अथवा प्रियोत्कण्ठिता चातका के रूप में पाते हैं। वह हमें जब-कब करुण-तरङ्गिणी और उत्साह-धारा के रूप में भी बहती दिखाई दी है।

उसे देखा-सुना तो सबने है, पर जाना किसीने नहीं। दैवने, जान पड़ता है, उसे दर्शनीय ही बनाया है, ज्ञेय नहीं। वह पुष्प-पत्र-हीन निभृत उद्यान, या वह फूल-डलिया ही उस मालिन का अन्तर्मर्म समझती है। हमारी दृष्टि में तो वह आज भी एक विचित्र पहेली ही बनी हुई है।

धृष्टता

जो कहने का नहीं वह कह डालता हूँ; जो करने का नहीं वह कर बैठता हूँ। फिर भी मेरी धृष्टताओं को तुमने भक्ति-भावनाओं की तालिका में एक ऊँचा स्थान दे रखा है, न्याय-निधे!

कभी मैं तुम से तुम्हारी न्याय-शीलता का भेद पूछ उठता हूँ, तो कभी तुम्हें 'अन्याय-प्रिय' के नाम से पुकारने लगता हूँ! कभी तुम्हारा मौन-भंग करना चाहता हूँ, तो कभी तुम्हारे मुँह पर अपना हाथ रखकर तुम्हें किसी से कुछ बोलने ही नहीं देता! भला, कुछ ठिकाना मेरी धृष्टता का!

क्षमा-सागर! एक दिन मैं तुम्हारे ध्यान-मग्न नेत्रों को हठात् खोल देता हूँ, तो दूसरे दिन तुम्हारे साथ आँखमिचौनी खेलने लगता हूँ! तुम हटाते हो, मैं गले में हाथ डालकर तुम्हारे हृदय से और भी चिपट जाता हूँ! तुम दुलारते हो, मैं रूठकर और भी मचल जाता हूँ! मेरी ये सब धृष्टताएँ क्या कभी क्षमा करनेयोग्य हैं, क्षमा-सिन्धो?

तुम्हारी स्तुति तो मैंने आजतक नहीं की। हाँ, गालियाँ तुम्हें ख़ूब सुनाई हैं। तुम्हें शायद ही मैंने कभी पुष्प-हार गूँथ कर पहनाया हो। हाँ, तुम्हारे गले से कई बार झटक-झटककर पुष्प-मालाएँ निस्सन्देह उतार ली हैं। मैंने तुम्हारे चरण तो कभी चापे नहीं। पर हाँ, मैं अनेक बार तुम्हारी गोद में, पैर फट-कारता हुआ, सोया अवश्य हूँ। इससे भी बड़ी क्या कोई धृष्टता होगी, भक्त-वत्सल?

फिर भी मुझे तुम प्यार करते हो! जान पड़ता है कि, धृष्टजन ही तुम्हारी कृपा के एकमात्र अधिकारी हैं।

रूप

वह उठती हुई एक सुन्दर ज्वाला है। दूर से देख भर ले; उसे छूने का दुःसाहस मत कर। सन्तप्त नेत्रों को ठंडा करले, कोई रोकता नहीं। पर, मूर्ख! उसके स्पर्श से अपने शीतल अङ्गों को कहीं जला न बैठना।

वह इठलाता हुआ एक प्रमत्त सागर है। अपनी अधीर आँखों को उसकी गर्वीली हिलोरों पर दूर ही से नचा भरले; उसके निःस्नेह अङ्क का आलिङ्गन करने आगे मत बढ़। तू ही बता, तुझे अपने भोले-भाले रसिक नेत्रों की मीठी मुस्कराहट पसन्द है, या तूफ़ानी समुद्र का भयङ्कर अट्टहास?

वह खिला हुआ एक पङ्किल पद्म है। अपने नयन-मुकुरों में उस विकसित सरोज की केवल छाया ही पड़ने दे; चयन-चेष्टा न कर। अधीर भावुक! तू ही बता, नीरस दृष्टि को उसकी सरसता में विभोर कर लेना कल्याण-कर है, अथवा उसे तोड़ कर अपने अमल अङ्ग पर कीचड़ का अङ्गराग कर बैठना?

सारांश यह कि, वह उपास्य तो है, पर अस्पृश्य है।

निशीथ

वह शून्यवाद की एक धारणा है। निराकारता से उसने साकारता धारण की है। शून्य को अलिप्त आलिङ्गन देती हुई वह अनन्त के अभिमुख विलज्ज भाव से खड़ी है।

वह नीरवता की एक प्रतिमा है। अर्थानुगामी शब्द उस मूक प्रतिमा में प्रतिष्ठित हुआ है। मौन को अकाम आलिङ्गन देती हुई वह शब्दब्रह्म की ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रही है।

वह शान्ति की एक भावना है। परिश्रान्त कर्मने मानो गभीरता के निलय में आकर आश्रय लिया है। तुरीया को अनादि आलिङ्गन देती हुई वह भीषण भावना भगवान् महाकाल के अज्ञेय संकेत पर अखिल ब्रह्माण्ड में विहार करने आई है।"

साधको! 'तस्यां जागर्ति संयमी' का प्रत्यक्षीकरण उसी नीरव निशीथ में तुम्हें होगा।

साधना

अब वे हँसते हुए फूल कहाँ ! अपने रूप और यौवन को प्रेम की भट्टी पर गलाकर न जाने कहाँ चले गये। अब तो यह इत्र है। इसी में उनकी तपस्या का सिद्धरस है। इसी के सौरभ में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो ! इसी इत्र को सूँघ-सूँघकर अब उन खिले फूलों की याद किया करो।

अब मेंहदी के वे हरे लहलहे पत्ते कहाँ! अपने रूप और यौवन को प्रेम की शिला पर पिसाकर न जाने कहाँ चले गये। अब तो यह लाली है। इसी में उनकी साधना का सिद्धरस है। इसी लाली में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो ! इसी लाली को अपने तलुओं और हथेलियों पर देख-देख कर अब उन हरे लहलहे पत्तों की याद किया करो।

अब सीप के वे अनबेधे दाने कहाँ ! अपने सरस हृदय को प्रेम के शूल से छिदाकर न जाने उन्होंने क्या किया। अब तो उन घायलों की यह माला है। इसी में उनकी भावना का सिद्ध रस है। इसी सुषमा में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो ! इसी माला को अपने कण्ठ से लगाकर अब उन अनबेधे दानों की याद किया करो।

माँझी का गीत

ओ प्रशान्त सागर के माँझी ! आज साँझ से ही लंगर डाल कर तू किस मस्ती में झूम-झूम यह गीत गा रहा है ? अवश्य ही तेरे इस गीत की स्वर-धारा पर कोई विश्व-विमोहिनी हिलोर खेल रही है।

तेरे संगीत की स्वरावली, कोकिल की उन्मत्तता, श्यामा की अधीरता अथवा चातक की विह्वलता की नाईं, हिलुर-हिलुर कर इस निर्विकल्प नीरधि को मानो विलोड़ित कर रही है।

माँझी ! आज तेरे गीत से करुणा की विरलता, शृङ्गार की मधुरता अथवा हास्य की सरलता तो फूटकर नहीं बह रही है ?

तेरे संगीत की मनोज्ञता को हम क्या नाम दें ! यह तो मानो सरोज-सौरभ की सञ्चारता, सान्ध्य सुषमा की सुचारुता अथवा मधुर मिलन की मुग्धता, उन्मुक्त हो, कल्लोल कर रही है।

माँझी ! तेरे गायन में सत्यतः मैं सम्पूर्णता का अनुभव कर रहा हूँ। इसीलिए उस पर मेरी समस्त उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ अपूर्ण और अनुदार-सी उतर रही हैं।

कामना

यह अकूल, असीम और अगाध सागर, तुम्हीं बताओ, मेरे किस काम का ? यह अनन्त जल-राशि क्या मेरी छटपटाहट दूर कर सकेगी ? प्राणान्त-काल भी मैं अपने शुष्ककंठ को इस उदार महोदधि का एहसानमंद न होने दूँगा। मुझ प्यासे पपीहे को तो प्यारे श्यामघन का एक स्वाति-बिन्दु ही सहस्र-सागराधिक

तृप्तिदायी है। मुझ हठी चातक की चोंच तो उस स्वाति-मधु का ही मधुर चुम्बन लेने की सतत कामना करती है।

मुझे अपने उसी रस-कुण्ड में प्यारी-प्यारी हिलोरों के साथ कलोल करने दो। तुम्हारा यह कौमुदी-कलित क्षीर-सरोवर मेरे किस अर्थ का? यह तो है ही क्या, स्वर्ग का सुधा-सर भी मेरी विरह-व्याकुलता अपने प्रणय-दान से दूर न कर सकेगा। मुझ छटपटाती मछली को तो वह हृदयाधार जल-कुण्ड ही एकमात्र जीवन-पयोधि है। मुझ मूढ़ मीन का अतृप्त हृदय तो उस रस-निलय कुण्ड के ही अधीर आलिङ्गन की सतत कामना करता है।

अगणित मणियों से प्रकाशित इस प्रासाद में मुझे तुम कैसे क़ैद रख सकोगे? मेरे प्राण तो अपने उसी प्यारे दीप को देखने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। सच पूछो तो इन्द्र की चिन्तामणियों का भी प्रकाश मेरे इस अँधेरे हृदय को आलोकित नहीं कर सकता। मुझ पापी पतंगे को तो उस दीप की लौ ही लौ लगाने की एकमात्र ठौर है। लोग कहते हैं, कि मैं निठुर दीपक को छाती से लगाकर व्यर्थ ही जल मरता हूँ। मैं ऐसा नहीं मानता। मेरा प्रियतम तो मुझे अनन्त जीवन-दान देता है। इसीलिए मेरे नीरस ओठ उसका मधुमय चुंबन लेने को कभी के छटपटा रहे हैं। यही आज मेरे जीवन में एकमात्र उत्कण्ठामयी कामना है।

करुणा

वह एक पुनीत और सरस सरिता है। परिश्रान्त पथिको! उसमें अवगाहन करके ही तुम आगे बढ़ना।

वह कोई साधारण सरिता नहीं है। अनन्त के वज्रोपम वक्षस्थल से निकलकर वह आजभी भावना के अगम्य अञ्चल पर मत्तमातंग-गति से बह रही है। त्रिताप-त्रिकूट विचूर्ण करती, निर्दय प्रस्तर-खण्डों से टकराती एवं निराशा की मरु-स्थली को सींचती हुई, अन्त में, वह भावुकों के हृदय-सागर को प्रेमालिङ्गन देती है।

माँझियो! छोड़ दो अपनी-अपनी नाव उस विशाल करुणा-तरङ्गिणी के प्रशान्त अङ्क पर। ख़ूब मौज में गीत गाते हुए जाना। खेना भी न पड़ेगा। बस, पाल भर बाँध देना। वायु तो सदाही अनुकूल बहती है। तुम्हारी झाँझरी नावों पर बोझा अवश्य अपरिमित है, पर आशंका की कोई बात नहीं। उस नदी के राह ही तुम उस स्थान को पहुँच सकोगे, जहाँ से लौटकर यहाँ पुनरागमन नहीं होता। इसी से, माँझियो! मैं कहता हूँ कि तुम शीघ्रही अपनी नावें उस विशाल करुणा-तरङ्गिणी के प्रशान्त अङ्क पर छोड़ दो।

विरह-वेदना

प्रियतम, इस हृदय-विहारिणी विरह-वेदना का मैं स्वयमेव स्वागत करता हूँ; मेरा विदीर्ण मानस इस मधुमयी यंत्रणा से सदा आन्दोलित होता रहे—बस, यही एक अन्यतम अभिलाषा है।

..

तब से फिर तुम कहाँ मिले! हाथ छुड़ाकर भागे सो भागे। मुझे यह नहीं कहना है कि, मेरा तुम क्या लेकर भागे। हृदय-हारी!

मेरा था ही क्या? अपना एक चंचल चित्त ही तो था। सो उसे अपना कर अच्छा ही किया। मुझे उसका कोई उपालंभ देने को नहीं। तुम जो मेरे तुच्छ वित्तापहरण के बदले अपनी अमूल्य स्मृति-मणि दे गये, उसे पाकर मैं आज किसी अलकेश से कम भाग्यवान् नहीं। उसी अमन्द मणि के प्रकाश में मैंने अपनी भावना-लेखनी से इस हृदय-पटल पर तुम्हारा एक चित्र अङ्कित किया है। उसी मणि के आलोक में मुझे इस प्रेम-सुधा का दिव्य दर्शन हुआ है। उस मणि-प्रकाश में मेरा यह सुधा-घट मुझ से कौन छीनकर लेजा सकता है?

दया-धाम! काँटा निकालकर क्या करोगे? चुभा सो चुभा। उसकी कसकीली चुभन ही तो अबतक मेरे इन अधीर प्राणों को धैर्य्य बँधाती आई है। सच मानो, प्रीति-गली के इस काँटे की कसकीली चुभन या चुभीली कसक ही मेरे जीर्ण-शीर्ण जीवन का एक मधुरतम अनुभव है। सो, नाथ! यह काँटा अब ऐसा ही चुभा रहने दो।

करुणाकर! कृपा करो, किरकिरी निकाल कर क्या करोगे? पड़ी सो पड़ी। इस कसक-किरकिरी की ही बदौलत ये आँखें तुम्हें देखने को अबतक खुली हैं। सच कहता हूँ, प्रेम-तूफान की कसकीली किरकिरी ही मेरी आँखों की एकमात्र ज्योति है। सो, प्यारे! यह किरकिरी अब ऐसी ही पड़ी रहने दो।

उपालम्भ

सच कहता हूँ, तुम्हारी स्मृति-बालिका बड़ी हठीली और चुलबुली है। कितना ही हटाओ, मेरे हृदय-मन्दिर के भीतर वह आ ही पैठती है। आय, घड़ी-दो-घड़ी शान्ति से बैठ—कोई रोकता नहीं। पर नित्य का यह ऊधमचारा किससे देखा जाता है। कहाँ तक सहूँ! शिकायत कर ही आती है।

अपने हृदय-मन्दिर पर मैंने एक लालसा-लता चढ़ाई थी। आँसुओं से सींच-सींचकर उसे बढ़ाया था। उसके फूल कहीं फेंक न देता, तुम्हारे ही चरणों पर आज चढ़ा देता। पर मन की मन ही में रही। जब उसके फूलने के दिन आये, तब उसे तुम्हारी स्मृति-बालिकाने उखाड़कर फेंक दिया। तुम्हीं बताओ, इससे उसे क्या मिला होगा? मैं ही जानता हूँ कि, उस दिन मुझे कितना दुःख हुआ था।

एक दिन तो मैं उसे हटाते-हटाते हैरान हो गया। मेरी आँखों की कटोरियों में थोड़ा-सा मधु भरा रखा था। उस रस को मैं

किसी के हाथ कुछ बेच न डालता, तुम्हारे ही चरणों पर किसी दिन उड़ेल देता। पर, वह भी न कर सका। तुम्हारी हठीली स्मृति दुलारी आई और उन मधु-भरी कटोरियों को औंधाकर चंपत हो गई। तुम्हीं बताओ, उसका यह अपराध क्षमा करने योग्य है?

अपनी लाड़ली लली की एक लीला और सुनलो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बन्द करके रख छोड़ा था। किसे उसका पता था? पर, तुम्हारी स्मृति ठहरी घट-घट-वासिनी। उसे मेरे छिपाव का पता चल ही गया। बस, फिर उसे चुराते देर न लगी। उस मानिक को मैं तुम्हारी अँगूठी में जड़वाना चाहता था। सो, वह भी साध पूरी न हुई। तुम्हारी प्यारी स्मृति उसे भी ले भागी। पता नहीं, उसने उस मानिक का फिर क्या किया। कहाँ तक उसके ऊधमचारे की शिकायत करूँ!

ठहरो, नाथ! ठहरो। मैं ही भ्रम में था। तुम्हारी दुलारी स्मृति निरपराधिनी है। उसने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा। बलिहारी! तुम्हारे चरणों पर मैं अपनी लालसा-लता के फूल चढ़े देख रहा हूँ! तुम्हारे पाद-पद्मों पर अपनी कटोरियों का वह मधु भी छिड़का हुआ पाता हूँ! और, तुम्हारी अँगूठी में मेरा वह चुराया हुआ मन-मानिक भी जड़ा हुआ है!

वह मस्ती

मस्ती तो बस वह थी। उस रात उस गोप-कुमार की बाँसुरी पर सभी मस्त हो रहे थे। ऊपर चन्द्र-विम्ब मन्द-मन्द मुस्कराता था। नीचे नदी नशे में चूर हो झूमती थी। सारे वन पर अमृत-फुही पड़ रही थी। समीर में उल्लास था। हिलोरें हुलस रही थीं। फुलवारियाँ फूली न समाती थीं। क्यारियाँ रंग से रँग गई थीं। कलियाँ खिल उठी थीं। पत्तियाँ थिरकती थीं। लह-लही लताएँ लूम-लूमकर लहरा रही थीं। डहडही डालें झूम-झूमकर नाचती थीं। पत्थर पसीज उठे थे। बाँसुरी की फूँक से सभी मंत्रमुग्धवत् हो रहे थे। सभी की आँखों में एक निराली मस्ती खेल रही थी। उस फूँक में न जाने क्या वशीकरण था। पशु-पक्षी भी उस समय मस्त हो वैर-भाव भूल गये थे। मोर नाचता था और सर्प उसके मण्डलाकार पक्षों पर लहरा रहा था! सिंहिनी की पीठ पर गयन्दिनी झूम-झूमकर सूँड़ से थपकियाँ लगा रही थी! मृग-शावक केसरी की पूँछ खींच-खींचकर कलोल करता था! बाँसुरी की मस्तीने ही उन स्वभाव-सिद्ध शत्रुओं को एक कच्चे धागे में बाँध रखा था।

उस ग्वाले की बाँसुरी में बड़ा बाँकपन था। मस्ती छा देना तो बस उसी का काम था। उस फूँक पर सुननेवाले मर मिटे। चुलबुला चित्त पकड़े न रहा। हृदय हाथ से छूट गया। अपनी आँखें भी अपनी न रहीं। बाँसुरी की तान रोम-रोम में उलझ गई। कौन किसकी सुनता। सभी झूमते थे। किसी का पैर सीधा न पड़ता था। उसी ओर खिँचे जाते थे। उसी पर मस्त हो रहे थे। उसी के हो रहे थे।

उस प्यारे मोहन की बाँसुरी सुनने को किसका जी न ललचाता। उस फूँक की मस्ती सभीने ख़रीदी। किसीने उस पर हृदय के हीरे लुटाये, तो किसीने मन के मानिक चढ़ाये। किसीने अपनी आँखों की मणियाँ ही न्योछावर कर दीं। फिर भी वह महँगी मस्ती सस्ती ही पड़ी।

आज वह बाँसुरी कहाँ! आज वह फूँक कहाँ! अब तो उस मस्ती की एक स्मृति-मात्र ही रह गई है। वही स्मृति उस बाँसुरी-वाले का चित्र हृदय की आँखों में खींच रही है। वही आज उस प्रेम-सुधा को चखा रही है। वही गोपियों की तन्मयता का अनुभव कराती है। वही चैतन्य-चन्द्र का प्रेमोल्लास दिखाती है। वही मीरा की विरह-विह्वलता बताती है। वही उपनिषदों का रहस्योद्घाटन कराती है। वही जीव को शिव बनाती है। वह स्मृति ही आज हमारे जीवन-भवन की एकमात्र आधार-शिला है।

अविवेक

मेरी विवेक-हीनता तो देखो। नीर को क्षीर मानता हूँ, और क्षीर को नीर! अनल-धारा को जल-धारा जानता हूँ, और जल-धारा को अनल-धारा!

गुरुवर्य्य! तुमने पढ़ाया था, कि रूप-लावण्य केवल दृश्य है, स्पृश्य नहीं; उपास्य है, भोग्य नहीं—पर, उस दिन मैं तुम्हारा

यह पाठ न समझ सका। मैंने तुम्हारे निरन्तर रोकने पर भी जल-धारा के प्रति उपेक्षाकर अनल-धारा में ही अतृप्त अवगाहन किया। इसी प्रकार क्षीर को फेंककर नीर से ही नवनीत निकालने की यावज्जीवन चेष्टा की।

गुरुदेव! मेरा दृष्टि-दोष तो देखो। मैं प्रेमाश्रु-मुक्ता को कच्चा और सीप के दाने को सच्चा मोती मानता रहा! उन पवित्र मुक्ताओं की माला न बनाकर मैंने इन मलिन मोतियों का हार तुम्हें पहनाया! यह झूठा हार तुम क्यों अंगीकार करने चले! पर, अब उन परित्यक्त अश्रु-मुक्ताओं को कहाँ खोजूँ?

मेरा विपरीत ज्ञान तो देखो। सदैव मैंने कामना को साधना और साधना को कामना के रूप में देखा। वासना में उपासना और उपासना में वासना की प्रतिच्छाया देख-देखकर मैं आज तक अपने जीवन-मरण में सामञ्जस्य स्थापित न कर सका। स्वप्न-पटल पर अङ्कित-सा दिखाई देता है आज तुम्हारा प्रत्येक उपदेश! हृदय के मरुस्थल पर आज रह-रहकर एक-एक स्मृति-हिलोर लहरा जाती है। पर अब विवश हूँ। यह देखो, पश्चात्ताप का उपहार लिये विश्वासघाती अविवेक मुझ पर घृणा और व्यंग्य से हँस रहा है। बस, जगद्गुरो! अब इन आँखों में तुम्हारी एक सर्व-समर्थ कृपा ही दिव्य ज्योति ला सकती है। सो, कदाचित् ही अब यहाँ वह प्रकाश हो।

मधु-सञ्चय

आज मैं अभी से अपना हृदय-पात्र लिये मधु-सञ्चय करने निकला हूँ। देखूँ, पात्र के भाग्य से कितना मधु मिलता है।

सर्वप्रथम उषा के सौरभित समीर की लोल हिलोरों के साथ केलि-निरत कुसुम-कलियों का मधु इस पात्र में सञ्चित करूँगा।

फिर, मैं मकरन्द-मत्त मधुप-मण्डल से मिलकर मुस्कराते हुए गुलाब की चितवन से थोड़ा-सा मधु माँगकर इस पात्र में रख लूँगा।

किसी सद्यः जाग्रत शिशु के अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से, तथा कलित कपोलों पर लहराती हुई उलझी अलकों से, और अधर-पल्लवों पर नाचती हुई मन्द मुसकान से भी मैं अपने इस पात्र में कुछ मधु उड़ेलूँगा।

किसी विप्रलब्धा तन्वी की विरल वीणा पर विषाद की हँसी हँसती हुई स्वर-लहरी में व्याप्त मधु को भी मैं न छोड़ूँगा।

इसी प्रकार किन्हीं दो वियुक्त प्रेमियों के आकस्मिक मिलन की मञ्जुल मञ्जरी से भी मैं अपने पात्र में थोड़ा-सा मधु डालूँगा।

कर्म के निरन्तर प्रवाह में अबाध गति से बहती हुई किसी अनासक्त कर्मयोगी की जीवन-तरी में सञ्चित यदि कुछ मधु मिल गया, तो वहाँ भी मैं अपना हृत्पात्र लिये जा पहुँचूँगा।

अन्त में, किसी स्थितप्रज्ञ महापुरुष के ध्यान-सरोवर में विकसित परानन्द-पद्म से यथेष्ट मधु लेकर अपनी मधुकरी-यात्रा पूर्ण करूँगा।

खोज

कब से तेरी खोज में हूँ! पता नहीं, तू किस अँधेरे कोने में छिपा मुस्करा रहा होगा।

उपनिषदों के अकूल उदधि में कई बार कूद-कूदकर डुबकियाँ लगाईं, उसके गगन-चुम्बी हिलोर-हिंडोल पर चढ़कर कैसा नृत्य किया और अचिंत्य आवर्त्तों में पड़कर कितने चक्कर खाये, पर प्रियतम! तेरी झलक तो मुझे वहाँ भी कहीं न मिली।

एक दिन सुना, कि तू साधना-सरिता के वक्षस्थल पर नौका-विहार किया करता है। मैं वहाँ भी जा पहुँचा। उस कलकल-निनादिनी तरङ्गिणी पर न जाने कितनी नौकाएँ थिरक और इठला रही थीं; कितने मनचले मतवाले उछल-कूद मचा रहे थे और कितने कर्मठ कामना-कामिनी को कंठ से लगाये जल-केलि में निरत थे! तुझे मैंने वहाँ खूब खोजा—एक-एक घाट छान डाला—पर,

मुझे तो वहाँ भी कहीँ तेरी विहार-नौका देखने में न आई।

उपासना-लोक में भी यदा-कदा उड़ता फिरा। ध्यान किया, पर अनुमान से। श्रवण-दर्शन हुआ, पर शब्द-पटल की ओट में। कल्पना का वहाँ भी हाथ न छोड़ा। जब-जब मैँ ने कल्पना को कंठ से लगाकर तेरे समीप आने की चेष्टा की, तब-तब तू सत्य का भीषण स्वरूप दिखाता हुआ मुझ से दूर होता गया। नाथ! मेरी इस वासनाने ही तेरी उपासना को आजतक कल्पना-रहित नहीँ होने दिया।

अब मैं तुझे कहाँ और कैसे खोजूँ? प्राणेश्वर, तू प्रेम का प्यासा और भाव का भूखा सुना गया है। पर, यहाँ तो दोनों का ही आत्यन्तिक अभाव है। तेरे रूप में निस्सन्देह अनन्त और असीम प्रेम ओत-प्रोत है। थोड़ा-सा वही प्रेम दे दे, मेरे प्रियतम! इसी प्रकार तेरे दयार्द्र हृदय से भावना का एक सरस निर्झर झरता है। अन्तर्यामिन्, दो-चार सुधा-सीकर उस निर्झर के भी चाहता हूँ। इस प्रेम-प्रसाद तथा भाव-भिक्षा से ही मैँ कल्पना और सत्य का चिरन्तन अन्तर अथवा उनका सामञ्जस्य अनुभव कर सकूँगा। और, निश्चय है, कि तभी तू अपने सौन्दर्य का मधु-पान कराने के लिए मुझे एक मुग्ध मधुप के रूप में पायगा।

देखूँ, मेरी यह अधीर भावना कब सफल होती है।

अश्रु-निर्झर

हाँ, मैंने इन्हीं झरनों में अपना पाप-पङ्क पखारा है। और इन्हीं के सुधा-सीकरों से मैंने कई बार अपने हृदय की प्यास भी बुझाई है। इसीसे मैं इन्हें तीर्थ-निर्झर मानता हूँ।

स्मरण नहीं, मेरा यह अन्तराकाश, कभी किसी युग में, सुनील और स्वच्छ था या नहीं। मैंने तो इसे सदा से मेघाच्छन्न ही पाया है। न जाने कब से इसमें काली-काली घन-घटाएँ घुमड़-घुमड़ कर घनीभूत होती आ रही हैं। अस्पष्ट धूमिल स्मृतियाँ, बिना ही किसी क्रम के, इस नभोमण्डल के साथ, याद नहीं कब से, आँखमिचौनी खेलती आ रही हैं।

उसी अज्ञात काल से रिमझिम-रिमझिम वर्षा का आरम्भ हुआ। तभी से झीनी-झीनी फुही पड़ने लगी, जो आजभी मेरे क्षत-विक्षत अन्तरिक्ष में करुण-कल्लोल करती हुई मुस्करा रही है।

वहीं कहीं से ये दोनों सोते फूटे हैं। इनका सीपाकार स्वच्छ उद्गम-स्थान देखकर लोग इन्हें मोतियों की लड़ियाँ समझ बैठे हैं! और, कुछ कल्पना-प्रिय रसज्ञ इन्हें नलिनी-दल-गत ओस-कण मान रहे हैं! देखो तो, मेरे निभृत निर्झरों का कैसा उप-हास किया जा रहा है!

पर, मुझे इस सब से क्या। मेरे लिए तो ये उष्ण निर्झर मेरी पंकिल कामना-कलियों के पखारने के एकान्त साधन-हैं। बस, इसीसे मैं अपने कसकीले आँसुओं के निरन्तर निर्झरों को तीर्थ-निर्झर कहने में अपार आनन्द का अनुभव करता हूँ।

हिंडोला

हिँडोले पर झूलने से मुझे क्यों रोकते हो? सावन के ये चार दिन भी तुम्हें देखे नहीँ सुहाते ?

वे सब मद-माती आलियाँ इठला-इठलाकर उस निकुञ्ज में झूलती हैँ, और मैँ यहाँ अकेली ही आँसुओं की झरी लगाये झूल रही हूँ। कहीँ उन्हीँ रँगीली सहेलियों के साथ मुझे भी झूलने को तो नहीँ कहते ? न, मैँ यहीँ अच्छी हूँ। मुझ रंकिनी को वे अपनी टोली में क्यों लेने चलीं ?

इस हिँडोले पर से अब मैँ उतरने की नहीँ। कुछ भी हो, इस पर तो मुझे झूलना ही होगा। झूलना बुरा नहीँ है। सभी झूलते हैं। चन्द्र झूलता है, और उसका सखा सूर्य भी झूलता है। पृथिवी झूलती है और उसका रमण आकाश भी झूलता है। सरिता झूलती है और उसका स्वामी सागर भी झूलता है। काल झूलता है और उसकी प्रेयसी प्रकृति भी झूलती है। किसी-न-किसी के साथ सभी गलबाहीँ दिये झुमक-झुमककर झूल रहे है। एक मैँ ही, बिना अपने साथी के, अकेली हिँडोले पर चढ़ी हूँ। तो इससे क्या?

मेरा प्रियतम मुझे इस आशा-हिँडोले पर बिठाकर न जाने कहाँ चला गया। तब से मैँ उसका मार्ग देखती हुई बराबर झूलती ही रहती हूँ। झूलते-झूलते मेरा यह जीवन-रहस्य ही एक हिँडोला हो गया है। अब तो अपने उस चिर-प्रतीक्षित प्यारे के साथ हुलस-हुलसकर झूल लेने पर ही इस अलबेले हिँडोले पर से उतरूँगी। क्या मेरी यह कामना कभी पूरी न होगी?

रोती हूँ या गाती—तुम्हें इससे क्या? मुझे तो बस झूलने दो।- तुम्हारे बहुत पूछने पर मैं केवल इतना ही कह सकूँगी कि, यह हिँडोला ही आज मेरे अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण या आधार रह गया है।

तुम्हारा शिष्य

जगद्गुरो, मैं भी तो तुम्हारा एक शिष्य हूँ। तुम्हारे चरणों के समीप बैठकर मैं भी तो कुछ उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ। सो, शाधि माम्।

उपनिषदोंने आत्म-अनात्म-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का सम्यक् समाधान किया है। न जाने कितने प्रकार से उन ब्रह्मदर्शी ऋषियों ने एकान्त-अनेकान्त, ज्ञेय-अज्ञेय, गुण-परिणाम एवं विवर्त्तादि-वादों की जटिल गुत्थियाँ सुलझाई हैं! उनकी दार्शनिकता निस्सन्देह निस्सीम और स्तुत्य है, किन्तु मेरे किस अर्थ की? मैं मूढ़ तो उससे आजतक अणुमात्र भी शान्ति-लाभ न कर सका।

अन्तर्यामिन्, मैं किसी दार्शनिक सिद्धान्त का पारदर्शी होना भी नहीं चाहता। मैं जिज्ञासु नचिकेता के रूप में तुम्हारे चरणों के समीप बैठने नहीं आया। मैं प्रपन्न पार्थ भी नहीं हो सकता। मैं तो शरण्यवत्सल! तुम्हारी एक भक्ति-भाजनता की जिज्ञासा लेकर ही सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। सो, उसका सन्तोषदायी समाधान करदो, मेरे जीवितेश्वर!

मैं जानना चाहता हूँ कि, क्या तो तुम्हारी कृपा है, और क्या हमारी साधना। मिलन-उत्कण्ठा अथवा विरह-विह्वलता का वास्तविक स्वरूप क्या है, मेरे हृदयनाथ? एक और शंका है। जगद्‌गुरो, उद्धव क्या जगत् से बाहर था? उसे अपना शिष्य स्वीकार न कर ब्रज की गँवार गोपियों से गुरु-दीक्षा लेने करील-कुंजों में क्यों भेज दिया था? गोपाङ्गनाएँ क्या तुम से भी ऊँची अध्यात्म-वादिनी थीं? क्षमा करना इस धृष्टता को, क्षमा-सागर!

मेरे इन सब प्रश्नों का उत्तर दो या न दो, मुझे तुमसे इसकी कोई शिकायत नहीं। मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ, कि मेरा यह चंचल चित्त, चंचरीकवत्, निरन्तर तुम्हारे पादपद्मों का पराग-पान करता रहे। इस एकमात्र कामना-पूर्ति में ही मैं अपनी समस्त शंकाओं का सम्यक् समाधान पा जाऊँगा।

साथी

प्रभो, जिसके सत्सङ्ग से मुझे, वास्तव में, अपूर्व सुख-शान्ति का अनुभव हुआ है, तुम्हीं बताओ, उसका साथ मैं कैसे छोड़ दूँ ?

नाथ, तुम्हारा आदेश लेकर मैं उस दिन इस सराय में

उतरा था। इस सराय का नाम, जानता नहीं, क्या है। पता नहीँ, तब से यहाँ कितने पथिक आये और कितने यहाँ से चले गये। कोई दस दिन ठहरा, कोई पाँच दिन। कोई कुछ गवाँकर गया, कोई कुछ कमा कर। कोई गाता गया, कोई रोता। सबसे मिला, सब से दो-दो बातें कीं, पर मेरे हृदय की प्यास एक भी पथिक न बुझा सका। सच कहता हूँ, उनमें से मन का तो एक भी साथी न मिला।

योँ अकेला निरुद्देश वहाँ कबतक रह सकता। यह भी पता न था कि, तुम्हारा आदेश कब और कैसे पूरा कर सकूगा। इस-लिए किसी संगी-साथी की खोज में पागल-सा घूमने लगा। अधीरता प्रतिक्षण बढ़ने लगी। पर मेरी आन्तरिक व्यथा का मर्मी वहाँ कौन था! सरायवाले तो मेरी उस उन्मत्त दशा पर उलटा हँसते थे।

स्वामिन्! तुमने अच्छे अवसर पर कृपा की। झुलसती हुई लता फिर से लहलही करदी। तुमने मुझे साथी-सा-साथी दिया। मित्र-सा-मित्र दिया। तुमने मुझे भी वही साथी दिया,—जिसे पाकर बुद्धने निर्वाण, ईसाने भ्रातृ-भाव और चैतन्यने प्रेम प्राप्त किया था। धन्यवाद!

मेरे साथी का नाम सुनने को कौन उत्कण्ठित न होगा? मेरा मित्र तो इस सराय के सभी प्रवासियों को जानता है, पर

उस अभागे का परिचय कितने भाग्यवानों को है ? वह सब को देखता रहता है, पर उसे कोई नहीँ देखता। उसका रहस्य विरले ही जानते हैँ। मेरा साथी सचमुच ही एक विचित्र पहेली है।

उस प्यारे मित्र का नाम अब प्रकट कर ही दूँ। लो, तो वह मित्र 'दुःख' है। बड़ा विवेकी, बड़ा सच्चा और बड़ा सहृदय है। मेरी और उसकी खूब बनती है। मुझे वह सदा हृदय से लगाये रहता है, और पलकों पर सुलाता है। बेचारा एक क्षण भी साथ नहीं छोड़ता। उस अनन्य सुहृद् का सुखकर नाम लेते ही मेरा हृदय-मुकुल पुलकित हो जाता है।

नाथ ! तुम्हारे इस कृपा-दान से मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि, मुझ पर तुम्हारा अपार वात्सल्य-स्नेह है। निश्चय है कि, तुम मुझे कभी अकेला न छोड़ोगे। आज मैँ तुम्हारे हाथ से नियुक्त अभिभावक की संरक्षा में अपने को वस्तुतः निर्भय, निश्चिन्त और निष्काम पा रहा हूँ।

स्वामिन् ! इस सहृदय सखा का साथ मैँ भला कैसे छोड़ सकूँगा। नाथ ! यह साथ न छुड़ाओ। मेरे सुख के वाधक न-बनो। इस अभिन्नहृदय बन्धु का विषम वियोग मैँ किसी भाँति न सह सकूँगा। कुछ भी हो, तुम्हारा दिया हुआ यह वरदान मैँ तुम्हें अब लौटाऊँगा नहीँ।

हृदय के भीतर

बाहर खड़े क्यों काँप रहे हो ? क्यों व्यर्थ जाड़े में ठिठुरे जाते हो ? आज हिमने चढ़ाई करदी है क्या ? कैसा कुहरा छाया है ! उत्तरी हवा तीर की तरह चुभ रही है । जान पड़ता है, कुछ ही देर में इस पहाड़ी नाले का पानी जमकर बरफ हो

जायगा। तभी तो इसकी चुलबुली लहरें भय से तट की ओर भाग रही हैं। बड़ा सन्नाटा है। प्रकाश का तो कहीं नाम भी नहीं। सारी रात इस शीत में बाहर खड़े-खड़े क्या करोगे, प्यारे पथिक? आओ, मेरे हृदय के भीतर आ जाओ। वहाँ बड़ी गरमी है। बरफ भी गलकर गरम पानी हो जाता है। दिन-रात आहों की लू चलती है! तुम्हारी स्मृतिने वहाँ एक अँगीठी सुलगा रखी है। तुम उस बार जो अपनी प्रेम-मणि छोड़ गये थे, उसी का प्रकाश वहाँ आठों पहर रहता है। जाड़े की इस भयावनी काली रात में, प्यारे! तुम्हें वहाँ अवश्य सुख मिलेगा। सो, बाहर खड़े-खड़े अब ठंड में मत ठिठुरो। आओ, हृदय के भीतर आ जाओ।

बाहर खड़े-खड़े झुलसते रहने से लाभ? सचमुच, आज दग्ध दिशाएँ अग्नि उगल रही हैं। धरती तपकर तवे की तरह लाल हो गई है। इस क्षीणकाय नदी का पानी कैसा खौल रहा है! मछलियाँ उबली जाती हैं। लू की लपटें क्या हैं, किसी रुष्ट सर्पिणी की विषाक्त फूत्कार-ज्वालाएँ हैं। यहाँ, कहीं दूरतक छाया भी तो नहीं है। ऐसी दोपहरी में तुम्हें कहाँ जाने की सूझी है? आओ, मेरे हृदय के भीतर चले आओ। वहाँ दो घड़ी विश्राम लेकर फिर जहाँ जाना हो तहाँ चले जाना। प्रिय पथिक! तुम्हारे लिए मैंने वहाँ एक शान्ति-निकुञ्ज निर्मित कर रखा

है। बड़ी घनी छाया है। शीतल और सौरभित समीर के साथ निकुञ्ज की प्रीति-लताएँ वहाँ सदैव रहःकेलि किया करती हैं। आनन्द से कमलासन पर बैठना। आँसुओं से इन परिश्रान्त चरणों को पखारकर तुम्हारे सन्तप्त शरीर पर स्नेह का अरगजा लगा दूँगा। उस निकुंज में, मेरे प्यारे! तुम्हें सब प्रकार का शीतोपचार मिलेगा। सो, धूप में खड़े-खड़े अपने कोमल अंग न झुलसाओ। आओ, हृदय के भीतर चले आओ।

बाहर खड़े-खड़े यों कबतक भीगते रहोगे? कैसा मूसलधार पानी गिर रहा है! नदी-नाले एक हो गये हैं। घटा-पर-घटा घिरती चली आ रही है। मेघों की निरन्तर गर्जना से दिशाएँ थर-थर काँप रही हैं। यह तड़ित-ताण्डव तो और भी भय का सञ्चार कर रहा है। सावन-भादों की रातों से भी आज की रात अधिक भयावनी है। ऐसे में तुम कहाँ जा रहे थे? अच्छे न आगे बढ़े। पर, यहाँ खड़े-खड़े अब भीगते क्यों हो? आओ, मेरे हृदय के भीतर चले आओ। वहाँ मैंने तुम्हारे लिए एक सुरम्य प्रेम-कुटीर बना रखा है। सच मानो, उस स्नेह-निवास में तुम्हें बड़ा सुख मिलेगा। वह स्थान अबतक तुम्हारे ही लिए सुरक्षित रहा आया है। तुम्हें तो योंभी कुछ दिनों उसमें वास करना चाहिए। आज अच्छे अनायास आगये। सो, अब बाहर न खड़े रहो। प्यारे पथिक! आओ, हृदय के भीतर चले आओ।

मधु-मञ्जरी

ये मंजुल मधु-मञ्जरियाँ और किसे सौंपूँ, मोहन! मैं तो तुम्हीं को इस भेंट का एकमात्र अधिकारी मानता हूँ।

अहा! कैसा सुहावना समय है! मंजरियों से लदी हुई रसाल की डहडही डाल, कर्णिकार का कोमल कमनीय कुसुम-

जाल, नवपल्लवित अशोक के लाल-लाल बौर और श्यामारुण पलाश की प्रेक्षणीय प्रभा देख किस प्रकृति-प्रेमिक का मन आज मंत्र-मुग्ध न हो जायगा ? मधु-मत्त मधुकरों का मृदुल मञ्जरियों पर गूँजना कैसा कर्ण-मधुर प्रतीत होता है ! समीर का तो कुछ कहना ही नहीँ । उल्लास-पूरित द्रुम-राजि के साथ इठला-इठला कर खेलने को उसका भी मन मचल रहा है । पंचम स्वर में रसाल-रमण कोकिल की कलित कुहूक अलग ही विदग्धजनों का चित्त चुरा रही है । रसिक ऋतुराजने कैसी विदग्धता से लावण्य के साथ रमणीयता का पाणि-ग्रहण करा दिया है ! तो क्या मधु-माधव के इस महा-महोत्सव में, मोहन ! ये मधु-मञ्जरियाँ तुम्हें छोड़ किसी अन्य को समर्पित करने जाऊँ ?

प्यारे ! दो-तीन मञ्जरियाँ तो मैं तुम्हारे मुकुल-मुकुट पर खोँसूँगा, और एक-एक तुम्हारे सुकोमल कर-पल्लवों में अर्पित करूँगा । तुम्हारी वन-माला में भी एकाध मञ्जरी गूँथने की कामना करता हूँ । और, दो मञ्जरियाँ तुम्हारे पाद-पद्मों पर चढ़ाने को उत्कण्ठित हो रहा हूँ । इच्छा है कि, आज तुम्हारा सर्वाङ्ग-शृङ्गार इन मञ्जुल मञ्जरियों से ही करूँ ।

आशा है, मेरी यह अनन्य अभ्यर्थना तुम अस्वीकार न करोगे । मोहन ! आज मेरी यह तुच्छ भेंट तुम्हें अंगीकार करनी ही पड़ेगी ।

काव्य-कला

तुम्हारा ही काव्य कल्पना और सत्य में सामञ्जस्य स्थापित कर सका है। अनादिकवे, तुम्हारे काव्य पर विश्व-भारतीने अनेक भाष्य रचे, किन्तु उसका रहस्य अद्यापि रहस्य ही रहा।

काल के पत्रों पर मूलाप्रकृति की लेखनी से तुमने काव्य-लेखन प्रारम्भ किया। तुम्हारी रुचिर रचनाने गद्य और पद्य दोनों को ही निरवद्य रूप से आलिङ्गन दिया है। उसमें शब्दा-लङ्कार अनिर्वचनीयता के साथ तथा अर्थालङ्कार भावना के साथ विमुक्त विहार कर रहे हैं। वास्तव में, ऐसा पद-लालित्य एवं रस-बाहुल्य अन्यत्र देखने में नहीं आया।

तुम्हारे अश्रुतपूर्व काव्य में कलित कलाओं का केलि-कल्लोल देखकर ही विज्ञान सत्य में तन्मय हुआ है। उसके माधुर्य का

आस्वादन करके ही कर्मने मुक्ति का प्रथम परिचय प्राप्त किया है। रस-निधे! तुम्हारे काव्य-रस में अवगाहन करके ही आत्माने जीवन को शिवत्व प्रदान किया है।

तुम्हारी काव्य-प्रतिभा वस्तुतः अपूर्व और अतर्क्य है। कामना को साधना का, तथा उपासना को वासना का रूप दे देना एक उसी का काम है। उसी से मैंने सुधा के झरने झरते देखे हैं, और उसी से गरल-विन्दु भी टपकते सुने हैं। अमा को राका एवं राका को अमा में परिणत कर देना तो तुम्हारी प्रतिभा की एक साधारण-सी कला है।

कवि-कवे, तुम्हारे काव्य का अध्ययन अनन्तकाल से समस्त सृष्टि करती चली आती है। किसी का अध्ययन प्रत्यक्ष रीति से हुआ है, तो किसी का परोक्ष रीति से। मैंने भी यदा-कदा उसकी दो-चार पंक्तियाँ पढ़ी हैं। अरसिक होने के कारण न तो मुझे उसके पाठ में ध्वनि और अलङ्कार का ही आनन्द आया, और न कभी ओज या प्रसाद का ही पता चला। मुझे तो उन दो-चार पंक्तियों में तुम्हारे एक प्रेम की ही झलक दिखाई दी है। उन्हीं पंक्ति-कलियों की माला को मैंने अपना हृदय-हार बना लिया है। तुम्हारे विश्व-काव्य में प्रेम को ही मैंने कला का एकमात्र नाम दिया है। मेरी दृष्टि में तुम्हारा प्रेम ही काव्य-कला का एक सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।

स्मृति-धारा

जीवनाधार, तुम्हारे मिलन की यह स्मृति-धारा आज मेरे लिए सहस्र-सहस्र जाह्नवी के समान है। इसमें अवगाहन करना ही आज मेरे लिए एक-मात्र सुकृत रह गया है। इस धारा का सलिल, सत्य ही, आज मेरे लिए तीर्थ-सलिल हो गया है।

ज्ञात नहीं, इसकी एक-पर-एक उठती हुई हिलोर क्यों मेरी उद्भ्रान्त भावना-तरी को निरन्तर आन्दोलित किया करती है। न जाने क्यों, मेरी असिद्ध साधना रह-रहकर इस धवल धारा के कल्लोल-कम्पित क्रोड़ पर क्रीड़ा किया करती है।

हृदयेश्वर, तुम्हीं बताओ, इसे मैं किस नाम से पुकारूँ? मन्दाकिनी कहूँ या पयस्विनी? जाह्नवी कहूँ या कलिन्दिनी? मैं तो इसे शिशु-स्मिति से फूटी हुई वात्सल्य-धारा अथवा भाव-मानस से निस्सृता मधु-धारा का नाम दूँगा।

माता के पूत पयोधरों से निकली हुई जीवन-धारा भी तो इसे कह सकते हैं। इसे मधुर-मिलन की वेदी पर बलि हो जानेवाले प्रेमोन्मत्तों की प्रणय-धारा कहना क्या कुछ असंगत होगा?

इसे मैं कवि की कल्पना-धारा में मिल जानेवाली प्रतिभा-धारा के रूप में भी देखता हूँ।

लीलामय, सच पूछो तो मेरे लिए यह विश्व-वेणु में लहराने वाली एक सरस स्वर-धारा है।

पर, सब से अधिक आनन्द तो, नाथ! मुझे अपनी इस स्मृति-धारा को स्मृति-धारा कहने में ही आता है। इसी कारण से मैं इस अनुपमा धारा को स्मृति-धारा कहा करता हूँ। तुम भी तो इस में सहमत होगे?

लीला

नट-नागर ! जिसे वे माया कहते हैं, उसे मैं तुम्हारी लीला कहूँगा । जिससे वे भयभीत होते हैं, मैं उसी की असीम स्नेह-मयी गोद में खेलूँगा ।

तुम्हारी लीला को मैं असत् कैसे मान सकता हूँ ? यह कैसे संभव हो सकता है, जगदाधार ! कि तुम सद्रूप समझे जाओ, और तुम्हारी लीला असत् ?

तुम्हारी लीला को मैं अचित् कैसे कह सकता हूँ? यह कैसे मान्य हो सकता है, अखिल बोधेश्वर! कि तुम चिद्रूप कहे जाओ, और तुम्हारी लीला अचित्?

तुम्हारी लीला को मैं निरानन्द कैसे कह सकता हूँ? यह कैसे घटित हो सकता है, रस-निलय! कि तुम आनन्द-रूप कहे जाओ, और तुम्हारी लीला निरानन्द?

श्रेयस्कर! तब उसे अशिव कहना भी नितांत असंगत होगा। यह असंभव है, कि तुम माने जाओ शिव, और तुम्हारी लीला अशिव!

लोक-ललाम! तुम्हारी ललित लीला को मैं अनुक्षण रमणीयता से रञ्जित देखता हूँ। यह कैसे प्रामाण्य हो सकता है कि, तुम लावण्य-निधि हो, और तुम्हारी लीला लावण्यमयी न हो?

हृदय-रमण! तुम्हारी लीला में तो सदा-सर्वथा सुख-ही-सुख है। दुःख को तो मैं मायावाद और शून्यवाद की स्थायी सम्पत्ति मानता हूँ। लीलावादियों के कोश में तो उसे कोई स्थान ही नहीं मिला है।

लीलामय! मुझे इस सृष्टि का आदि, मध्य और अवसान तुम्हारी एक अलक्ष्य लीला में ही आज प्रत्यक्ष हो रहा है। इसीसे, नट-नागर! तुम्हारी लीला के प्राङ्गण में खेलने के लिए मै अनुक्षण अधीर रहा करता हूँ।

बन्धन

मेरी अज्ञानता तो देखो, हृदय-नाथ ! तुम मुक्ति देते हो और मैं उसे लेता नहीं ! तुम्हारे हाथ से बँध जाने में ही मैं आज अपना अहोभाग्य समझ रहा हूँ ।

तुम भी मुझसे मुक्ति नहीं पा सकते । तुम्हें तो, सरकार ! कच्चे धागे से ही बाँधकर मैं अपनी आँखों में तब से नचा रहा हूँ । बँध जाना और बाँध लेना दोनों ही आज मेरे अधीन हैं । धन्य हूँ मैं !

मुझे क्या पड़ी थी, जो मैं अपना निर्बन्ध हृदय तुम्हारे बाहु-पाश से इस भाँति आबद्ध करा लेता ? आये थे मुझे बाँधने ! यह खबर ही न थी कि तुम्हें स्वयं भी तो मेरी भुज-माल से साथ ही बँध जाना होगा । बस, अब बँधे रहो । मैं तो अपने

बन्धन की तुमसे कोई शिकायत करता नहीं। फिर, तुम क्यों मेरी भुज-माल तोड़-ताड़कर भागने की ताक में रहते हो? जीवनाधार! हम दोनों क़ैदियों को अनन्तकाल पर्यन्त इन सुदृढ़ बंधनों से बँधे रहने में ही अब आनन्द है।

मुझे क्या पड़ी थी, जो तुम्हारी चितवन का फंदा अपनी उनीदी आँखों में जान-मानकर डाल लेता? प्यारे, तुम्हारी चितवन का फंदा कुछ ऐसी उलझन का है कि तुम्हारे लाख यत्न करने पर भी मेरी मतवाली आँखें उससे सुलझ नहीं सकतीं। झटका देकर भी अब तुम इन्हें उस फंदे से न छुड़ा सकोगे। और, तुम्हारा वह फंदा भी तो मेरी आँखों के विरह-जाल में बुरी तरह से उलझ चुका है। इससे, हृदय-रमण! हम दोनों की फँदीली आँखों को अनन्तकाल पर्यन्त इस उलझन में पड़ी रहने में ही अब आनन्द है।

मुझे क्या पड़ी थी, जो अपना अमोल मन-मानिक यों ही तुम्हारी मुसकान की डिबिया में सम्पुटित कर देता? ज्ञात नहीं, वह मानिक तुम्हारे किस काम में आयगा। पर, अब उसके मोह से छूट जाने की तुम में शक्ति नहीं। तुम्हारी उस मीठी मुसकान ने, एक तरह से, तुम्हें ही बाँधकर ठग लिया। इससे हम दोनों के मुग्ध मनों को, प्यारे! अनन्तकाल पर्यन्त प्रणय-रज्जु से बँधे रहने में ही अब आनन्द है।

मधुमयी

मधुमयी क्या ? ज्ञान-गरिमा से तात्पर्य तो नहीं है ? नहीं ; वह तो आत्म-विकास की एक प्रेरणामात्र है । उसे तो बस एक विशुद्ध अहंभावना ही कहना ठीक होगा । माना कि वह एक कल्याणकारिणी पूर्णता है, किन्तु उसमें रस की व्यापकता कहाँ ?

अतएव मधुमयी का विशेष्य वह ज्ञान-गरिमा कैसे मानी जा सकती है ?

अच्छा, कर्म-साधना से अभिप्राय होगा। नहीं, नहीं; उसे तो एक विशुद्ध आत्म-प्रकृति ही कहना युक्ति-संगत होगा। वह तो सत्ता की एक अनुकूल संवेदनामात्र है। उसे एक मुक्ति-वाहिनी प्रक्रिया ही कह सकते हैं। उसमें मधु की अवतारणा कैसे होगी ? अतएव मधुमयी का विशेष्य तो कुछ और ही होगा। वह मधुमयी नहीं है।

तब अव्यक्त-उपासना तो अवश्य ही मधुमयी होगी। वह भी नहीं; उसे मधुमयी कहना ठीक नहीं। वह तो आत्मा की एक उत्कृष्ट धारणामात्र है। उसे तो बस एक मधुरतम की उच्चतम निष्ठा ही मान सकते हैं, मधु-पूर्ण नहीं कह सकते। अतएव मधुमयी का विशेष्य तो कुछ और ही होना चाहिए। वह मधुमयी नहीं है।

भाई, प्रेम-लक्षणा पराभक्ति ही मधुमयी है। वह एकसाथ ही ज्ञान-गरिमा, कर्म-साधना एवम् अव्यक्त-उपासना की परम विकासिका है। उसे पूर्णता, प्रक्रिया और निष्ठा सभी कह सकते हैं। वही मधु का विशेषण है, और वही उसका विशेष्य भी। उस एकमात्र मधुमयी को अनन्त आलिङ्गन देकर, प्यारे प्राणियो ! अबभी अपना-अपना जीवन मधुमय बना लो।

रहस्य

मैं आज अपने प्रेम-तत्व को प्रगाढ़ आलिङ्गन देने जा रहा हूँ; क्योंकि उसमें मैंने तेरी दिव्य माधुरी का पता पाया है। इसलिए मेरी दृष्टि में तो मेरा प्रेम-तत्व तेरी माधुरी से भी अधिक मधुरतर है।

मैं अपने दुःख-सर्वस्व के साथ खेलने जा रहा हूँ; क्योंकि वह मुझे तेरे सुख का झरना बता देगा। तब मेरी दुःख-क्रीड़ा तेरे सुख-कल्लोल की अपेक्षा अधिक आनन्द-दायिनी हुई या नहीं?

आज मैं अपने अपराधों का एक चिरस्मारक बना रहा हूँ; क्योंकि उसका आश्रय लेकर मैं तेरी कृपा का भाजन बन सकूँगा। इसलिए मेरे मत में तो मेरा अपराध-स्मारक ही तेरी कृपा से अधिक कृपालु है।

मैं दीनता को अपनी सहचरी क्यों न बनाऊँ? वही तो मुझे तेरी करुणा का क्रोड़ प्रदान करायगी। इसीलिए मेरी दीनता तेरी करुणा की अपेक्षा अधिक रसानुगामिनी है।

अब मैं अपनी असमर्थता की ही शरण में जाऊँगा; क्योंकि इस से तू मुझे अपनी पराशक्ति का परिचय करा देगा। अतः मेरी असमर्थता तेरी शक्ति की अपेक्षा अधिक प्रबला है।

अब तो मैं अपनी अनभिज्ञता ही अङ्गीकार करूँगा; क्योंकि मेरे सार-शून्य हृदय में तेरी पराविद्या का विकास उसी के द्वारा हो सकेगा। तब, इस दृष्टि से, मेरी अनभिज्ञता ज्ञान-सरिता मानी जायगी या तेरी पराविद्या?

आज मैं अपनी क्षुद्र सत्ता को प्यार करने जा रहा हूँ; क्योंकि इससे मैं तेरी अखिल व्यापकता का अनुभव कर लूँगा। मैं मानता हूँ, कि मुझे अपनी क्षुद्र सत्ता का प्यार तेरी व्यापकता से भी अधिक प्यारा है।

अब मैं विरह का हालाहल पान करूँगा; क्योंकि तेरी मिलन-सुधा उसी सुपेय पान से प्राप्त हो सकेगी। अतः मेरी सम्मति में तेरी मिलन-सुधा से मेरा वह विरह का हालाहल-पान अधिक अभि-वाञ्छनीय है।

प्राणेश्वर! क्षमा करना। मेरी तुलनाएँ तेरी तुलना के आगे क्या चीज़ हैं। कहाँ त्वदीय, कहाँ मदीय! कहाँ तू, कहाँ मैं!

उस पार

माँझी, मेरी नाव उस पार लगादे। क्या हुआ, जो असमय हो गया। अभी आधी ही रात गई होगी। हाँ, धार का वेग निस्सन्देह भयावह है। इसीलिए डर रहा है कि कहीं नाव उलटकर डूब न जाय? उठ, डाँड़ पकड़। नाव उलटेगी नहीं। माँझी, डर मत।

अरे, कैसा बैठा-बैठा ऊँघ रहा है! तेरे लिए, देख, कब से ठिठुर रहा हूँ! सुनता ही नहीं! क्या कहा, कि इसी पार रात भर रह जाओ? नहीं, भाई! यहाँ तो न रह सकूँगा। यहाँ का यह विलास-भवन अब देखा नहीं जाता। यह तो मानो खाये जाता है। यह विहार-वाटिका भी तो जलकर राख का ढेर हो गई है। सो, अब मुझ से यहाँ क्षणमात्र भी खड़ा नहीं रहा

जाता। पूर्वस्मृति की काली छाया पीछे पड़ रही है। अरे, उफ़! कितनी वेदना है! कैसी यन्त्रणा है! तेरे पैर छूता हूँ, निर्दय! नाव खोलदे।

क्या कहा, कि वह पार अज्ञात है? हो अज्ञात—उसकी कोई चिन्ता नहीं। यह ज्ञात पार ही मुझे क्या सुख दे रहा है। अब तो तू मेरी यह नाव उस अज्ञात अपरिचित पार को ही ले चल।

वहाँ पहुँचने के लिए कैसी तीव्र उत्कण्ठा है! कैसी अतृप्त लालसा है! माना कि उस पार का आनन्द अखण्ड और नित्य है, पर उस पर मेरा अधिकार ही क्या। उस पारवाले की बाँसुरी क्या कभी सुनने को मिलेगी? उधर की मधु-पेया क्या कभी इन प्यासी आँखों को पिला सकूँगा?

अब तो मेरी सारी साधनाओं का परिणाम तेरे ही हाथ में है। जबतक तू यह डाँड़ न पकड़ेगा, तबतक उस पार के लिए मैं छटपटाता ही रहूँगा। चल, एकबार तो कृपाकर उस बाँसुरी की फूक इन व्याकुल कानों में भरदे। वह पेया एकबार तो इन प्यासी आँखों को पिलादे। यहाँ की कामना वहाँ की उत्कण्ठा में परिणत करदे। प्यारे माँझी, अब मेरी नाव तू उस अज्ञात पार की ही ओर खेकर लेचल। भाई, तेरे पैर छूता हूँ, कृपाकर मेरी यह झाँझरी नाव शीघ्र खोलदे।

न जाने, कैसे हो !

उस दिन उस पगली व्रजाङ्गना की आँखों में, कहो, क्या खोज रहे थे ? उस बेचारी की व्याकुल पुतलियों को व्यर्थ चोरी लगाने में तुम्हें क्या मिल रहा था ? अच्छा, वहाँ फिर क्या मिला ? मोहन, वहाँ तुम्हारा मौजी मन कहाँ था ! वह तो न जाने किसने कहाँ चुराकर रख लिया होगा। उस पगली गोपी की आँखों में तो तुम्हें बस अपना एक धुँधला-सा चित्र मिला होगा। वही अब उन व्याकुल पुतलियों का सर्वस्व है। वे बेचारी चोरी करना क्या जाने। पर तुम्हारे आगे विश्वास

और सच्चाई का मूल्य ही क्या !

अच्छा, अब यह बताओ, उस अन्धे से तुम इतना क्यों डरा करते हो? झटके से अपना हाथ छुड़ाकर भागते समय, सच कहो, उस दिन तुम्हारा बल-पराक्रम कहाँ चला गया था ? एक सूर को धोखा देते, शूर-शिरोमणे ! तुम्हें तनिक भी लज्जा न आई ! कुछ भी हो, उस अन्धे के आगे तुम मर्द तो रहे नहीं। वह तुम्हें मर्द क्यों बदने लगा। हम तो तब जानते, जब तुम उसके हृदय की अँधेरी कोठरी से निकलकर यहाँ भाग आते। अरे, रहने भी दो अपनी यह कोरी चतुराई। वह अन्धा, अन्धा न था। श्याम-सुन्दर ! वह सूर अपने अगाध सागर में आज भी तुम्हें गोते लगवा रहा है !

और, मीरा ? उस बावली की बात क्यों कहोगे ! तुम्हें रिझाना तो बस उसीने जाना। पर, तोभी, उसे तुम सदा खिझाते ही रहे। बुरा न मानना, उसके प्रेम की तोल में तुम तक हलके बैठोगे। अहा ! कैसा उसका प्रेम था ! उसके हाथ में ज़हर का प्याला प्रेम-प्याला हो गया। और नागिनी हो गई फूलों की माला ! अच्छा, तुम्हीं कहो, उसके आँसुओं से अभिषिक्त लता कैसी थी ? माना कि तुमने मीरा को अन्त में अपना लिया, पर पहले इतना खिझाया क्यों ? प्यारे, तुम न जाने कैसे हो ! तुम्हारी रीझ और खीझ का कुछ पता नहीं चलता।

भक्तों के सौभाग्य

भक्त-वत्सल, उस आग्रही दैत्य-कुमारने ही एक जलते हुए लाल खंभे के भीतर तुम्हारी विमल वात्सल्य-धारा बहती देखी थी।

इसी प्रकार एक और हठीले बालकने अपने पीत कपोलों पर तुम्हारे कर-कमल का सुशीतल स्पर्श-लाभ करके ध्रुव-पद प्राप्त किया था।

पतित-पावन, तुम्हारे चरण-चिह्नों का दिव्य प्रतिबिम्ब तो, बस, उस मत्स्य-जीवी केवट के कठौते में पड़ा था। क्यों न उस अछूत का वह पात्र जगद्-वन्द्य माना जाय।

दलितोद्धारक, तुम्हारे पाद-पद्मों की धूलि तो उस भगवती

शिलाने ही पोछी थी। तब फिर उस प्रेम-लता को पाषाणी कहने की कौन धृष्टता करेगा ?

परमसखे, वह दिन भी कभी भूलने का नहीं, जब तुम्हारी प्रेमाश्रु-धाराने तुम्हारे उस दरिद्र अतिथि के धूलि-धूसरित पैर, चार चावलों के लोभ से, पखारे थे।

हृदय-दुलारे, एक दिन एक भाग्यवती गोप-गृहिणीने तुम्हें अपनी रस्सी से बाँधकर तुम्हारी अनोखी रिस-भरी बाल-छवि देखी थी। लाल, तुम्हारी वे आँसुओं से डबडबाई हुई लाल-लाल आँखें, कहो, किसकी आँखों में न समा जायँगी ?

त्रिलोकेश्वर, तुम्हारा आतिथ्य तो उस ग़रीब की कुटिया में ही केले के छिलकों से भली-भाँति हुआ था। भीलनी के बाद उसी कुटीर-वासिनीने तुम्हारी सच्ची मेहमानदारी की थी।

उस अपढ़ जुलाहेने अपने करघे पर ताने-बाने पूर-पूरकर तुम्हारी ललित लीला का जैसा-कुछ अनुभव प्राप्त किया वैसा फिर आजतक किसी से करते नहीं बना।

और उस अन्धे का वह एकतारा ? उसके स्वर में तो तुम सूरश्याम के नाम से आज भी बड़े प्रेम से गाया करते हो।

प्यारे, उस रात मरु-देश की एक पगलीने तुम्हें अपने रंग-महल में छिपाकर तुम्हारे साथ कैसी सुन्दर चौसर खेली थी ! तभी तो तुम उस बावली के 'सजन' कहे जाते हो।

हठीले

फिर वही बात ! अभी यहीं छिपे रहो। आँखों के इन छोटे-छोटे कोनों में छिपे-छिपे क्या ऊब गये ? आया, तो आने दो उस अहेरी को। भरी होगी कोई मोहिनी मादकता उसकी गर्वीली आँखों में। तुम्हें क्या पड़ी है, जो उस बधिक के मतवाले नेत्रों की ओर छलक-छलककर खिँचे जा रहे हो ? मत आओ बाहर। इन्हीं प्यारी पुतलियों के साथ खेलते रहो, मेरे हठीले आँसुओ !

लाड़ले आँसुओ ! इन लोभी लोचनों के तुम सत्यही एक सुरक्षित धन हो। तुम्हीं कहो, तुम क्या इनके अतुल तप के अभीष्ट फल नहीँ हो? इसीलिए तुम इन आँखों के उस तारे को भी शायद प्राणों से प्यारे हो। आया, तो आने दो उस प्यारे घातक को। तुम तो अभी यहीं खेलते रहो। उस अपरिचित प्रियतम की झलक तुम यहीँ से छिपे-छिपे ले सकते हो। उसकी छवि की अस्पष्टता में ही तो एक महान् रहस्य अन्तर्हित है। सो, यहीँ से इन श्याम पुतलियों पर उस मोहन की एक धुँधली तसवीर खीँच लो।

पर, तुम मानोगे नहीँ। बाहर निकल आने की ही उतावली कर रहे हो। अच्छा, आओ, निकल आओ। लो, ललक-ललक कर छलक पड़ो। पर जिस पर उस मनोरम अहेरी का स्मृति-चित्र अङ्कित है उस झाईँ को कहीँ अपनी उठती हुई लहरों से धो न डालना। तुम-जैसे चुलबुले और हठीले उस झाईँ का मर्म क्या समझेँ! सच पूछो तो उस झाईँ ही की बदौलत वह अपरिचित आज यहाँ आकर खड़ा हुआ है, जिसके चरण चूमने को तुम तब से इतना हठ कर रहे हो। मेरे हठीले आँसुओ, नहीँ मानते, तो आओ, छलक पड़ो। और, उस प्यारे पथिक के चरणारविन्दों पर ओस-विन्दुओं की भाँति निरन्तर झिल-मिलाते रहो।

पतंग

तुम्हारे लिए मैंने एक प्रीति की पतंग बनाई है। कहो, उड़ाओगे? अच्छा, लो। लगन की डोरी से इसे उड़ाओ। जितना चाहो उतना ऊपर चढ़ा सकते हो। डोरी कम नहीं है।

कैसा ही झटका दो, पतंग फटेगी नहीं। इसमें मैंने धारणा का कागज़ और श्रद्धा की काँप लगाई है। और, भावना की लेई से जोड़ चिपकाये हैं। इतने पर भी क्या तुम्हारे नन्हें-से हाथ के झटके से मेरी प्रीति-पतंग फट जायगी?

डोरी भी न टूटेगी। तुम्हारी प्रतीक्षा के अगणित क्षणों को बट-बटकर उसे मैंने तयार किया है। और, आँसुओं में सानकर विरह का माँजा भी उस पर चढ़ाया है। इतने पर भी क्या तुम्हारे नन्हें-से हाथ के झटके से मेरी लगन-डोरी टूट जायगी?

सच मानो, प्यारे वत्स! यह पतंग मैंने तुम्हारे ही लिए बनाई है। लो, लो, इसे उड़ाओ।

कसौटी

कैसे मानलूँ कि मेरा यह मटमैला मन निश्चयही काञ्चन है ! जबतक मैँने, नाथ ! इसे तुम्हारी भक्ति-कसौटी पर कस नहीँ लिया है, तबतक इसके वास्तविक सुवर्ण होने में मुझे संशय ही बना रहेगा। तो क्षणमात्र के लिए क्या वह दुर्लभ

कसौटी दे दोगे, कृपा-धाम ?

इतना तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ, कि इस स्वर्ण में न जाने कितना मैल भरा है। यह सब मेरी कुवासनाओं की कृपा है। तुम्हारी उस कसौटी पर कसने के पहले मुझे इस कनक को तनिक तपा लेने दो।

प्रियतम ! तुम्हारी आत्यंतिक विरह-व्याकुलताने अभी तक मेरे हृदय-काष्ठ को संघर्षित नहीं किया। एक भी चिनगारी यदि वासनाओं के गीले ईंधन पर पड़ जाती, तो कभी की वहाँ आग सुलग गई होती। अब, कहो, किस आग में इसे तपाऊँ ?

मेरे पास सुहागा भी तो नहीं है। बिना अनुराग-सुहागा मिलाये इसमें वह लाली कैसे आयगी ! सो, वह भी प्रभो, तुम्हीं को देना होगा। हाँ, तो फिर और कौन देगा ?

मेरी यह धारणा है, कि इसका मैल और खोटपन तुम्हारे विमल विरह और अमल अनुराग ही से दूर हो सकेगा। जबतक मैल जलकर दूर नहीं हो गया, तबतक भक्ति-कसौटी की अभियाचना व्यर्थ है। जन-वत्सल ! तो क्या किसी दिन मुझे अपना विरह, अनुराग और भक्ति देने की कृपा करोगे ?

प्रेरणा

हाँ, उसी मरुस्थली पर सुरम्य सरोवर लहरा उठा ! मलय-समीरने उसकी सुकुमार हिलोरों पर हलके हाथ से थपकियाँ लगा दीं। प्रणयी पद्म-पुञ्ज मुग्धा मधुकरियों के सरल चुम्बनों से पुलकित और विकसित हो गया। मराल-मरालियोंने भी कमल-कलियों के साथ केलि-कलोल करना प्रारंभ कर दिया। सारस भी वहाँ न जाने कहाँ से उड़ते हुए आ पहुँचे। शुभ्र वक-मालाने तो सरोवर-कण्ठ को पहले ही अलंकृत कर रखा था। तो क्या उस असंभव संभावना को तुम्हारी प्रणय-प्रेरणा न कहें, लीलामय ?

हाँ, वही हिम-शिखर अकस्मात् अनल-ज्वालाएँ उगल उठा ! जेठमास के रेगिस्तानी तूफ़ानने हिम-शिलाएँ थरथरा डालीं। देवदारु का लहलहा वन झुलसकर राख होने लगा। विहग-कुल तो पहले ही करुण-क्रन्दन करता ज्वाल-मालाओं में उलझ गया। हिमाद्रि का वज्र-हृदय भी उस दारुण दृश्य को देख पिघल उठा। तो भी आँसू पोंछते हुए रसिक हिम-शृङ्गने प्रियतमा अनल-ज्वाला को एक प्रगाढ़ आलिङ्गन दे ही दिया। तो क्या उस असंभव संभावना को तुम्हारी प्रणय-प्रेरणा न कहें, लीलामय ?

निरर्थ सौन्दर्य

मैं तो आजतक सौन्दर्य का अर्थ अवगत न कर सका। और फिर, समझने का यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं किया। मेरे जीवन में तो वह सदा एक पहेली ही रहा।

मधु देखा और मधुप भी देखा। मद्य देखा और मद्यप भी

देखा। पर, जिस रूप में मैं चन्द्र और चन्द्रिका देखता हूँ, अथवा जल और तरङ्ग देखता हूँ, उस रूप में अद्यापि मधु और मधुप, तथा मद्य और मद्यप न देख सका। कदाचित्, इसी कारण से, अबतक मैं सौन्दर्य का अर्थ नहीं लगा सका हूँ।

कुसुम-कलियाँ देखीं और चतुर माली भी देखा। आँख देखी और उससे लड़नेवाली भी आँख देखी। पर, जिस रूप में मैं मोती और उसका पानी देखता हूँ, अथवा आकाश और उसकी नीलिमा देखता हूँ, उस रूप में अद्यापि कुसुम-कलियाँ और चतुर माली, तथा आँख और उससे लड़नेवाली आँख न देख सका। कदाचित्, इसी कारण से, अबतक मैं सौन्दर्य का अर्थ नहीं लगा सका हूँ।

रूप देखा और रूप-रसिक भी देखा। उपास्य देखा और उपासक भी देखा। पर, जिस रूप में मैं तन्त्री का तार और उसकी झनकार देखता हूँ, अथवा विद्युत् और उसकी अस्थिर व्यापकता देखता हूँ, उस रूप में अद्यापि रूप और रूप-रसिक, तथा उपास्य और उपासक न देख सका। कदाचित्, इसी कारण से, अबतक मैं सौन्दर्य का अर्थ नहीं लगा सका हूँ।

जबतक मेरी दृष्टि सत्यता, सरलता और समता से आलोकित एवं अनुप्राणित न हो जायगी, तबतक सौन्दर्य-रहस्य मेरी मानसी भावना में, एक प्रकार से, अज्ञेयवाद ही बना रहेगा।

असामर्थ्य

न, मुझ से यह सब न हो सकेगा, सर्वसमर्थ ! क्षमा करो, मैं तुम्हारी ऐसी आज्ञाओं का पालन न कर सकूँगा ।

कैसे उसका भार वहन करूँगा ? सामर्थ्य भी तो हो। कहाँ तो मेरी ये कमल-केसर-जैसी पतली-पतली उँगलियाँ और कहाँ वह तुम्हारा सहस्र-शेष-दुर्वह कर्मरूपी महान् मन्दराचल !

कैसे उसका सर्वाङ्ग चित्र खीचूँगा ? अखिल ब्रह्माण्ड-विस्तृत पत्र भी तो हो। कहाँ तो मेरे क्षुद्र नेत्रों की ये नन्हीं-नन्हीं श्याम पुतलियाँ और कहाँ वह तुम्हारा अनंत और असीम विराट् रूप !

कैसे उतना अधिक उड़ेलूँगा ? वैसा पात्र भी तो हो। कहाँ तो मेरा यह छोटा-सा हृदय-घट और कहाँ वह तुम्हारे प्रेम-रस का अकूल और अगाध महोदधि !

कैसे उसका यथार्थ वर्णन करूँगा ? वाणी में वैसी शक्ति भी तो हो। कहाँ तो मेरी यह पर-निन्दा-निरत नीच जिह्वा और कहाँ वह तुम्हारी अवाङ्मनसगोचर दिव्य गुणावली !

प्रभो ! तुम्हारी ऐसी आज्ञाओं का पालन मुझ से न हो सकेगा। विश्वास है, मेरी स्पष्टवादिता पर ध्यान न देकर तुम अवश्य मुझे क्षमा-दान दोगे ।

प्यास

पिलादो, प्यारे ! इन्हें अपने दर्शन का दो घूँट पानी। तुम्हें क्या पता, कि प्यास के मारे इन अड़ीली आँखड़ियों में कितनी जलन और कितनी तड़प है।

भला, इन का दीवानापन तो देखो। अगाध सागर के तट पर युगों से उड़ती हुई भी ये गर्वीली चातकियाँ तुम्हारे स्वाति-विन्दु के लिये प्यासी छटपटा रही हैं।

उड़ेलदो, प्यारे ! थोड़ा-सा रूपासव इन खाली प्यालियों में। यह तो निश्चय है, कि तुम्हारा लावण्य-मद्य छोड़ ये हठीली प्यालियाँ स्वर्ग की सुधा को भी अपने हृदय में स्थान न देंगी।

देदो, प्यारे ! थोड़ा-सा सौन्दर्य-मधु इन उन्मत्त मधुकरियों को। यह तो विश्वास है, कि तुम्हारे सौन्दर्य-मधु को छोड़ ये मानिनी मधुकरियाँ नन्दन-वन के पारिजात-पराग पर भी अपना ओठ न लगायँगी।

अब से

अबतक जो हुआ सो हुआ। अब अपनी अमूल्य घड़ियाँ अकर्मण्यता की अँधेरी गुफा में योंही न फेंक दिया करूँगा। अब तो उन्हें, जीवितेश्वर! तेरे सेवा-सदन में सुरक्षित रखता जाऊँगा।

प्रभो, तेरा मैं दर्शन करता ही कैसे? नेत्र तो निरर्थक और निन्द्य दृश्य देखते-देखते तभी धुँधले और ज्योतिर्हीन हो गये थे। उनकी श्याम पुतलियाँ बाह्य रूप के प्रत्याघातों से श्वेत पड़ गई थीं। और स्वच्छता का तो वहाँ नाम भी न था। बिना प्रेमाश्रु बहाये कहीं किसी आँख को स्वच्छता मिली है? अब ये आँखें तेरी निष्कपट सेवा कर सकेंगी। बात यह है कि, तेरी कृपाने इन्हें थोड़ा-सा अनुराग-अञ्जन दे दिया है। उसे आँजते ही इन निष्प्रभ नेत्रों में दिव्य दृष्टि की अवतारणा हो जायगी। फिर तो इन काली पुतलियों में एक तेरी ही छवि सदा अङ्कित रहा करेगी।

नाथ, तेरा आह्वान-गायन मैं कैसे गाता? वाणी तो अनृत

और अश्लील संलाप से तभी कटु और कलुषित हो गई थी; और परापवाद की प्रताड़नाने सरसा रसना को रस-च्युत कर दिया था। स्वर में मनोज्ञता का तो लेशमात्र भी न रह गया था। बिना तेरा गुण-गान किये कहीं किसी कण्ठ को स्वर-मनोज्ञता प्राप्त हुई है? अब यह वाणी तेरी निष्कपट सेवा कर सकेगी। कारण यह है कि, तेरी अनुकम्पाने इसे थोड़ा-सा प्रेम-रस दे दिया है। उसे पीते ही इस कटु कलुषित वाणी में विश्व-विमोहिनी स्वर-मनोज्ञता की अवतारणा हो जायगी। फिर तो इस रसीली रसना पर एक तेरा ही आह्वान-गायन सदा नृत्य किया करेगा।

प्यारे, तुझे बुलाकर मैं पधराता कहाँ? हृदय-स्थली तो तभी कामनाओं की रंग-शाला बन गई थी। मेरी मंजु मानसी को दुरूह दुर्वासनाएँ भट्टी की भाँति तपाया करती थीं। और, कामानल से भाव-वाटिका भी ध्वस्त हो चुकी थी। बिना तुझे रमाये कहीं कोई वाटिका लहलही रही है? अब इस हृदय-स्थली पर मैं तुझे सहर्ष पधरा सकूँगा। तेरी कृपाने इस पर आज रस-वर्षा कर दी है न। उससे अभिषिक्त होकर इस सन्तप्त और ध्वस्त भाव-वाटिका में आनन्द की अवतारणा हो जायगी। फिर तो इस पुनीत हृदय-स्थली पर तुझे नित्य ही पधराकर अपनी भाव-वाटिका में रमाया करूँगा।

ऐश्वर्य या माधुर्य ?

केशव, मुझे क्या पसन्द करना चाहिए ? तुम्हारा ऐश्वर्य या माधुर्य ? मुझे तो माधुर्य ही रुचिकर ज्ञात हो रहा है, क्योंकि ऐश्वर्य को मैं ने अज्ञेयवाद का एक रूप मान लिया है।

इस अपार और अगाध महोदधि के सुविस्तीर्ण तट पर खड़ा-खड़ा मैं क्या करूँगा ! नाथ, मैं तो तुम्हारे उस छोटे-से स्नेह-सरोवर में ही मीन बनकर जल-क्रीड़ा करना चाहता हूँ।

इस भयावह, निर्जन और निभृत कानन में, कहो, मैं कबतक भटकता फिरूँगा ! हृदय-वल्लभ, मैं तो मधुप होकर तुम्हारी उस मधुमयी वाटिका के पाटलों का ही पराग लेने को उत्कण्ठित हो रहा हूँ।

इस रुद्र-रूप प्रचण्ड मार्त्तण्ड की ओर भला मैं कैसे देख सकूँगा ! प्रभो, मेरी अधीर आँखें तो तुम्हारे उस लोक-ललाम मुख-चन्द्र की ही चकोर होकर उपासना करना चाहती हैं।

इस उत्क्रान्त जन-कोलाहल की करालता से मैं कबतक आन्दोलित तथा उत्पीड़ित होता रहूँगा ! मोहन, मैं तो हरिण होकर तुम्हारी उस वीणा पर थिरकती हुई रागिनो से ही मंत्र-मुग्ध हो जाने को तड़प रहा हूँ ।

इस अनन्त, अज्ञेय और शून्यतत्त्व की निराकारता मुझे क्या आनन्द दे सकेगी ! प्यारे, मैं तो प्रमत्त मयूर होकर तुम्हारी वह श्याम-घन-घटा ही देखता हुआ नृत्य करने को व्याकुल हो रहा हूँ ।

इस धवल हिमांचल की उपत्यका में मुझ मायावी से भला कभी तपश्चर्या तथा आत्मानुभूति हो सकेगी ! लीलामय, मैं तो एक भावुक होकर तुम्हारे उस अवध या गोकुल की लीला-भूमि में ही भक्ति-भावना से विभोर होने को अधीर हो रहा हूँ ।

इस लक्ष-लक्ष-ब्रह्माण्डव्यापी विराट् रूप को कहाँतक देखता फिरूँगा ! लाल, मैं तो दशरथ या नन्द होकर तुम्हारी वह छोटी-सी बाल-मूर्ति ही पालने में लालने और दुलारने को छटपटा रहा हूँ ।

नाथ, मेरी दृष्टि में तो सचमुच वह मूढ़ और भाग्यहीन है, जो तुम्हारे माधुर्य को त्याग ऐश्वर्य की चकाचौंध में पड़ना चाहेगा ।

अनुनय

तनिक ठहरो, इधर भी देखते जाओ। कब से रीता घड़ा लिये बैठा हूँ! सारी फुलवारी झुलस गई है। क्यारियाँ सूखी पड़ी हैं। लताएँ मुरझा गई हैं। फूल-पत्ती का तो कहीं नाम भी नहीं। अब बेचारा माली, बताओ, क्या करे! तुम्हारे सुरक्षित सरोवर

से मुझे बस यही एक घड़ा भरना है। रोकते क्यों हो? सभी तो उसके जल से अपनी-अपनी फुलवारी सींचते हैं। यह रोक-टोक मेरे ही लिए क्यों हो रही है? क्या कहा कि, अपने आँसुओं से क्यारियाँ क्यों नहीं सींच लेते? वह भी कर चुका हूँ, सरकार! अश्रु-जल से तो वे और भी सूख गई हैं। खौलता हुआ पानी कहीं लताओं को लहलहापन दे सकता है? यह बाग़ तो अब तुम्हारे ही सरोवर के जल से हरा हो सकेगा। सो, अब यह रीता घड़ा भर लेने दो। रोको मत।

प्यारे, फूल कहाँ से लाऊँ? क्यों लजाते हो? हा! क्या करूँ। आज मेरी फुलवारी हरी-भरी होती, तो क्या मैं तुम्हें एक मालती-हार भी उपहार में न देता? क्या तुम्हारे चरणों पर पुष्पाञ्जलि भी न चढ़ाता? क्या मैं तुम्हारे मार्ग पर पाटल के पाँवड़े भी न बिछाता? पर, अब क्या करूँ, विवश हूँ। तुम जैसे आये तैसे चले। कुछ भी स्वागत-सत्कार न कर सका। मन की मन में ही रही। मेरी फुलवारी में, प्यारे! तुम्हारे लिए आज एक फूल भी न निकला!

तुम भूलते हो। इस फुलवारी के माली एक दिन तुम्हीं थे। तुम्हींने इन क्यारियों को सींचा था और तुम्हींने इन बेलियों को प्रफुल्लित किया था। वह स्नेह आज क्या हुआ? यह वही रँगीली फुलवारी है, जिसे तुमने कभी अपनी मधुर मुसकान

से मुकुलित और सुरभित किया था। ये वही अलबेली बेलियाँ हैं, जिन्हें तुमने कभी अपनी प्रेम-चितवन से हरित और पुलकित किया था। ये वही प्यारी क्यारियाँ हैं, जिन्हें तुमने कभी अपनी स्नेह-सुधा-धारा से सिञ्चित और रस-प्लावित किया था। याद है न? आज तो इधर तुम हेरते तक नहीं! अपने सरोवर से एक घड़ा जल भी नहीं भरने देते! तुम्हें यह क्या हो गया है, प्रियतम?

भागते क्यों हो, तनिक ठहरो। एक बात और पूछनी है। क्या तुम इस फुलवारी को उजाड़ देने का विचार कर रहे हो? तो क्या जला-जलाकर इसे राख ही कर डालोगे? यह क्यों? इतनी रिस क्यों करते हो? तुम यह न कर सकोगे। मैं इसकी रखवाली प्राण-पण से करूँगा। देखूँ, तुम अपने सुरक्षित सरोवर से कैसे पानी नहीं भरने देते। मैं उसी जल से इसे सींचूँगा, और फिर सींचूँगा। अबकी बार मैं यहाँ, बिना पाटल-पाँवड़े बिछाये, तुम्हें न तो आने ही दूँगा, और न तुम्हारे कण्ठ में बिना मालती-हार पहनाये जाने ही दूँगा।

अगुप्त गोपन

लो, कली भी कहीँ छिपाये छिपी है! प्रवीण पत्तियोंने उसे अपने हृदय से लगाकर बहुत छिपाना चाहा। उसके ललित लजीले मुख को अपने अंचल से ढक लिया। भूलकर भी अपनी सहेली का भेद उन्होंने किसी से नहीं खोला। किन्तु प्रेमातुरा कलिका छिपाये छिप न सकी। गुप्तरीति से परिमल-वाहिनी दूती भेज उसने अपना रमण मधुकर अन्त में अपने समीप बुला ही लिया।

मदिरा भी कहीं छिपाये छिपी है! चतुर मद्यपीने उसे अपने हृदय-सदन में सुरक्षित स्थान देकर बहुत छिपाना चाहा। उसके अरुणाधरों का तीक्ष्ण चुम्बन भी उसने सब की आँख बचा कर निश्शब्द रीति से लिया। भूलकर भी अपनी प्रणयिनी का चन्द्रानन उसने किसी को नहीँ दिखाया। पर कुलटा मदिरा की लगन छिपाये छिप न सकी। मद्यपी की खुमारी-भरी झपीली आँखोंने, अन्त में, उस प्रमदा का गुप्त भेद खोल ही दिया।

कस्तूरी भी कहीँ छिपाये छिपी है! कला-कुशला प्रकृतिने

बड़े ही पाटव से उसे मृग-नाभि में सम्पुटितकर छिपाना चाहा। उसका पता बेचारे मृग को भी न था। प्रकृतिने भूल कर भी कभी अपने इस गोपन-रहस्य का उद्घाटन नहीं किया। किन्तु स्वच्छन्दता-प्रिय कस्तूरिका छिपाये छिप न सकी। गुप्त रीति से सुगन्ध द्वारा सन्देश भेजकर पितृ-घातिनीने, अन्त में, विलासी बहेलियों को बुला ही लिया।

करुणा भी कहीँ छिपाये छिपी है! निष्ठुर कृतघ्नताने उसे अपने कारावास में बाँधकर बहुत बन्द करना चाहा। अश्रु-जल न देकर पिशाचिनी उसे प्यास से तड़पाती रही। भूल कर भी कृतघ्नताने अपनी इस नीचता का कभी किसी को परिचय नहीँ दिया। परन्तु पुण्यप्राणा करुणा छिपाये छिप न सकी। अवसर आने पर उस निष्कृप कारागार से वह, आँखों की खिड़कियों में होकर, बाहर निकल ही आई।

इसी भाँति, प्यारे! तुम्हारी प्रीति भी कहीँ छिपाये छिपी है! प्रगल्भा लोक-लज्जाने उसे मनोमन्दिर में रमाकर बहुत छिपाना चाहा। कुल-कानिने अपने वश भर उसे कभी हृदय-द्वार तक निकलने नहीँ दिया। किन्तु निरङ्कुश प्रीति छिपाये छिप न सकी। आज उसने लोक-लाज के लाख रोकने पर भी मनोमन्दिर से बाहर निकल तुम्हारे प्रेम-पूरित नेत्रों को धृष्टता-पूर्ण आलिङ्गन देही दिया।

प्रार्थना

प्रार्थना कराते-कराते, आश्चर्य है, तू कभी थकता ही नही ! कब से किस-किस के मुख से कितनी प्रार्थनाएँ सुनता चला आ रहा है ! यह कैसी अतृप्ति, कैसी अभितृष्णा !

प्रलयङ्कर काल कब से प्रार्थना करता आ रहा है। इस प्रार्थना-प्रसाद ही से उसने नियति एवं प्रेरणा प्राप्त की है। उसकी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर तूने उसे अपनी विभूतियों में स्थान दिया है, और 'कालोऽस्मि' कह कर अपने उद्भ्रान्त जनों को अपने शासन-दण्ड का स्मरण कराया है।

उन्मुक्त दिशाएँ भी किस कृतज्ञता से तेरी प्रार्थना किया करती हैं ! इस प्रार्थना के ही प्रताप से उन्हें अभ्रान्त साक्ष्य का लाभ हुआ है। नित्य-प्रार्थी सूर्य और चन्द्र भी इन ध्यान-मग्न दिशाओं

के हृदय में रमते और प्रार्थना का रहस्योद्घाटन किया करते हैं ।

और, इस अनन्त आकाश की प्रार्थना तो सुनो । इसके कैसे शून्यत्ववाची महामंत्र हैं ! यह अप्रमेय आनन्द-शक्ति इसे प्रार्थना की ही कृपा से प्राप्त हुई है । फिर क्यों न वह अपना अस्तित्व तेरी व्यापकता में लीन करदे ?

शेष महाभूत भी तो किसी-न-किसी रूप से तेरी प्रार्थना करते चले आते हैं । आकर्षण, संघर्षण और विघर्षण एवं संयोग तथा वियोग का अविराम संग्राम वे तेरी प्रार्थना करके ही देख रहे हैं । अरे, यह सृष्टि ही तेरी प्रार्थना की एक स्वतंत्र प्रतिक्रिया है ।

चराचर जगत् से जब तू अपनी अनवरत प्रार्थना करा रहा है, तब मुझे ही क्यों उस पवित्र सदनुष्ठान से अभिवञ्चित रखता है ?

हा ! मेरी कितनी ब्रह्म-वेलाएँ और कितनी सन्ध्याएँ प्रार्थना-विहीन व्यतीत हो गईं ! प्रार्थना-प्रिय ! क्या मेरे जीवन की इस सार-शून्यता पर तुझे तनिक भी लज्जा नहीं, कुछ भी परिताप नहीं ? मैं तो अपनी इन प्रार्थना-विरहिता वेलाओं का एकमात्र उत्तरदायी तुझे ही मानूँगा ।

स्वामिन् ! अब भी कृपाकर मुझे अपने अखण्ड प्रार्थना-मण्डल में सम्मिलित हो जाने का अधिकार दे दे ।

है कोई गाहक ?

क्यों, भाई ! कोई प्रेम की हाट में मेरे प्यारे की थोड़ी-सी मादकता खरीदने चलेगा ? कोई तयार हो तो चले। बड़ा बढ़िया सौदा है। ऐसा अवसर फिर तो हाथ आने का नहीं।

अच्छा, ख़रीदना, चाहे न खरीदना—वहाँतक तनिक चले चलो। कुछ ऐसा दूर नहीं है। न जाने कहाँ-कहाँ के प्रेमी गाहक उस हाट में इकट्ठा होंगे। तुम सब तो यहीं खड़े-खड़े सोच रहे हो ! क्या इस सोच-विचार में ही सारा दिन गँवा दोगे ? खड़े रहो, मेरा क्या वश ! मैं अब तुम्हारे लिए न ठहर सकूँगा।

है कोई ऐसा ख़रीदार, जो मेरे मोहन की कुछ मादकता ख़रीदने चले ? वह उसकी चितवन की मादकता है। जिसने भी उसे बिसाहकर अपनी आँखों की प्यालियों में उड़ेल लिया, वही लगन की लहरों के साथ झूम-झूमकर नाचने लगा। वह चोटीली भी ख़ूब है। मर जाने को ऐसा मधुर और जीवनदायी ज़हर फिर कहाँ मिलेगा ? कितनी ही महँगी हो, वह मादकता तो, भाई, ख़रीदकर ही रहना है।

क्यों, कोई ख़रीदेगा मेरे प्रियतम की कुछ मादकता ? वह

उसकी मुसकान की मादकता है। जिस किसीने भी उसे ख़रीद कर अपनी हठीली श्याम पुतलियों को पिला दिया, वही इश्क़ के हिँडोले पर हुलस-हुलस झूलने लगा! वह चुभीली भी ख़ूब है। घायल होने को ऐसा सुकोमल और सुखदायी अस्त्र फिर कहाँ मिलेगा? कितनी ही महँगी हो, वह मादकता तो, भाई, ख़रीदकर ही रहना है।

लेगा कोई मोल मेरे मोहन की थोड़ी-सी मादकता? वह उसके मिलन की मादकता है। जिसने भी उसे खरीदकर अपने हृदय-घट में रख लिया, वही प्रेमोन्माद के सरोवर में रँगरेलियाँ करने लगा। वह कसकीली भी ख़ूब है। तड़प-तड़पकर करवट बदलते रहने को ऐसा अनोखा और प्यारा रोग फिर कहाँ मिलेगा? कितनी ही महँगी हो, वह मादकता तो, भाई, ख़रीद कर ही रहना है।

न जाने तुम लोग कैसे हो! क्या वह सौदा तुम्हें कुछ हलका या महँगा जान पड़ता है? हाय, हाय! विरह के आँसुओं की चंद लड़ियाँ ही तो उसकी क़ीमत में देनी हैं। क्या इस दो कौड़ी के सिर का मोह है? अरे, इसे तो यहीं उतारकर पैरों तले कुचल देना होगा। उस हाट में बिना सिर के ही गाहक जाते हैं। लो, अब चलो; नहीं तो हाट उठ जायगी और फिर पछतावा ही हाथ लगेगा।

अभिलाषा

न, प्रभो ! मुझे सुरेन्द्र का उन्मत्त मन न दो। मैं आजन्म असमर्थ उसकी अपूर्ण कामना-पूर्ति कैसे कर सकूँगा ? मुझे तो उस अतिथि-सेवी बलि का मन चाहिए। मेरी दृष्टि में तो देवाङ्गनाओं के कुसुम-कन्दुक के कामोद्दीपक प्रताड़न की

अपेक्षा अकिञ्चन अतिथि का पाद-प्रहार ही अधिक आनन्ददायी है।

नाथ, मुझे अवधेश दशरथ के राजप्रासाद का कनक-पात्र न दो। मैं तो उस गुह निषाद की पर्ण-कुटी का एक कठौता चाहता हूँ। कनक-पात्र में भरे हुए दूध और दही की अपेक्षा मुझे, सच मानो, उस कठौते में भरा हुआ वन-बटोहियों का चरणोदक ही अधिक स्वादुकर प्रतीत होगा।

न, प्रभो! मुझे धार्तराष्ट्र की मनोवृत्ति न चाहिए। मैं तो विदुर की चित्त-वृत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हूँ। मैं तुम्हारा स्वागत राजाधिराज के रूप में कैसे कर सकूँगा? इसलिए मैं तो तुम्हें पार्थ-सखा के ही रूप में देखना चाहता हूँ।

स्वामिन्! मुझे राजदुलारी रुक्मिणी की राजसी प्रीति न चाहिए। मुझे तो किसी पगली गोप-कुमारी की भोली भावना देदो। मैं तुम्हें द्वारकाधीश के रूप में कैसे पहचान सकूँगा! मेरे मनोमन्दिर में तो, प्यारे, तुम बाँसुरीवाले के रूप में ही विहार कर सकते हो।

गागर में सागर !

प्रभो, तुम्हारा नाम मानो वाङ्मय है। उस वाङ्मय में ही वेद है, शास्त्र है, उपनिषद् है, स्मृति है, पुराण है, इतिहास है, काव्य है, व्याकरण है, ज्योतिष है और अखिल विश्व-भारती का विकास है।

तुम्हारा नाम मानो कर्म-कण है। उस कर्म-कण में ही गुण-त्रयी है, पंचमहाभूत हैं, अन्तःकरण-चतुष्टय है, जीव है, काल है और अनन्त ब्रह्माण्ड है।

तुम्हारा नाम मानो परात्पर रस है। उस रस में ही सत् है, चित् है, आनन्द है, निर्विकल्प समाधि है और अखण्ड ब्रह्मानु-भूति है।

नाथ, तुम्हारा प्रेम मानो स्वाति-विन्दु है। उस एक ही विन्दु में कूप है, कुण्ड है, तड़ाग है, नदी है, समुद्र है और समस्त जल-तत्व है।

तुम्हारा प्रेम मानो वट-बीज है। उस एक ही बीज में मूल है, धड़ है, शाखा है, पत्ती है, फूल है, फल है और सर्व वृक्ष है।

तुम्हारा प्रेम मानो गायन है। उस एक ही गायन में स्वर है, लय है, तान है, मूर्च्छना है और समस्त संगीत है।

और, प्यारे! तुम्हारा मिलन? वह तो मानो दिव्य माधुर्य है। उस नित्यमाधुर्य में ही कैशोर्य है, लावण्य है, सौकुमार्य है, कान्ति है और संपूर्ण सौन्दर्य है।

तुम्हारा वह मिलन मोक्ष भी तो है। उस मोक्ष में ही साध्य है, उपास्य है, ज्ञेय है, ध्येय है और निरतिशय श्रेय है।

बलिहारी! हम-जैसे मूढ़ जनों के लिए यह अच्छा गागर में सागर भर दिया है!

तथास्तु !

भगवन्, अनन्तकाल पर्यन्त भावुकजन तुम्हारे प्रेम-सरोवर में हंसों के समान क्रीड़ा करते रहें; और, उनकी भाव-मानसी में तुम भी सतत विहार करते रहो।

ज्ञान की मरुभूमि को तुम्हारी भक्ति-भागीरथी निरन्तर सींचती रहे; और, भक्ति-भावना की कमलिनी पर ज्ञान-भास्कर का प्रकाश सदा पड़ता रहे।

नाथ, भक्त-भ्रमर तुम्हारे प्रेम-पद्म का पराग अनुक्षण पिया करें, और, तुम भी भावुकों के हृत्कमल-कोष में सदा रमण करते रहो।

अन्य समस्त साधनाएँ तुम्हारी कृपा की अनवरत अर्चा किया करें; और तुम्हारा सहज वात्सल्य उन समस्त साधनाओं पर स्वरस-वर्षा करता रहे।

प्रभो, तुम्हारी प्रेम-लता प्रेमियों के तरुण भाव-तमालों को नित्य आलिङ्गन दिया करे; और, भावुकों के श्याम नीरद तुम्हारी स्नेह-दामिनी सतत हृदय से लगाये रहें।

हम सदा तुम्हारी सम्पत्ति माने जायँ; और, तुम पर हमारा भी अखण्ड अधिकार बना रहे।

तथास्तु !